प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय,
मंत्री सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

दूसरी बार १९६१
मूल्य
साढ़े तीन रुपये

मुद्रक
राष्ट्रभाषा प्रिंटर्स
दिल्ली

पूज्य पिता

स्व० लाला हीरालालजी के

चरणो मे

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक का दूसरा संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता अनुभव होता है। जैसा कि पुस्तक के नाम से स्पष्ट है इसका विषय कुछ गूढ़ है लेकिन बहुत-से पाठकों की ऐसे विषयों में रुचि रहती है और वे इस प्रकार की पुस्तकों को बहुत ही चाव से पढ़ते हैं।

पुस्तक की सामग्री तीन खण्डों में विभाजित है। पहले खण्ड में लेखक ने आत्मा के विषय में जानकारी दी है। दूसरे में बताया है कि सत्य मार्ग क्या है और तीसरे में विभिन्न दर्शनों का विवेचन किया है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि लेखक ने इस पुस्तक की सामग्री को जुटाने में बड़ा परिश्रम किया है। नये संस्करण में कुछ नई बातें भी जोड़ दी हैं।

हम आशा करते हैं पाठकों को यह संस्करण पहले की अपेक्षा अधिक पसन्द आयेगा और वे इससे अधिकाधिक लाभ लेंगे।

—मंत्री

भूमिका

मैं 'आत्म रहस्य' को पढ़ गया। इसमें लेखक ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि न केवल विभिन्न धर्म और दर्शन प्रत्युत आधुनिक विज्ञान और मनोविज्ञान भी सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा का प्रतिपादन करते हैं। विभिन्न विचारकों के दृष्टिकोण विभिन्न हैं। यह भेद कुछ तो विचारकों के रुचि भेद के कारण उत्पन्न हुआ है, कुछ देश-काल गत परिस्थितियों ने उनको इस बात के लिए विवश किया कि पदार्थ के पृथक पृथक पहलुओं को अधिक महत्त्व दें। इस नय भेद के कारण पदार्थ के वर्णन में वैषम्य का पाया जाना स्वाभाविक है परन्तु यदि वैषम्य के कारण को ध्यान में रख कर निष्पक्ष नेत्र से काम लिया जाय तो विभिन्न मतों का समन्वय करके आत्मा के स्वरूप का परिचय मिल सकता है। आत्मा के स्वरूप के साथ साथ जगत के स्वरूप, कर्मफल की प्राप्ति अप्राप्ति आदि कठिन समस्याओं की ग्रंथियां भी खुल सकती हैं। रतनलालजी ने ग्रंथियों को खोला भी है। वह जिस परिणाम पर पहुंचे हैं वह बहुत दूर तक तो बार्हस्पत्य विचार धारा को छोड़कर सभी भारतीय दर्शनों की समान भूमिका और सम्पत्ति है। इसके आगे उनके विचार उन विशेष तथ्यों की ओर झुके हैं जिनका प्रतिपादन जैन आचार्यों ने किया है।

जहांतक पुस्तक का उद्देश्य यह प्रतिष्ठापित करना है कि आत्म-तत्त्व विचारणीय है हमको जगत के भौतिक स्वरूप-मात्र को इतिश्री न मान लेना चाहिए विचार में असहिष्णु होकर इदमित्थमेव न मानकर विभिन्न पहलुओं को देखकर संतुलन करना चाहिए, आत्म-स्वरूप को पहचानने के लिए मनन के साथ साथ त्याग, तप समाधि की आवश्यकता है वहांतक मैं रतनलालजी को उनकी सफलता पर बधाई देता हूं। प्राच्य और पाश्चात्य विचारों का एक ही जगह अच्छा संग्रह हुआ है और यह संग्रह बुद्धि को अंकुश देकर सोचने के लिए विवश करता है।

—सम्पूर्णानन्द

दो शब्द

गौतम बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा था— भिक्षुओ, मैं जो कुछ कहूँ वह परम्परागत है इसलिए सच मत मानना। लौकिक न्याय है ऐसा मानकर सच मत मानना। तुम्हारी श्रद्धा का पोषक है इसलिए सच मत मानना। मैं शास्ता हूँ पूज्य हूँ ऐसा समझकर सच मत मानना। ऐसा ही होगा ऐसा मानकर सच मत मानना। तुम्हारा हृदय और मस्तिष्क जिस बात को विवेकपूर्वक ग्रहण करे उसे ही सत्य मानना।

मैं अपनी इस पुस्तक के सम्बन्ध में भी उपरोक्त युक्ति को इस प्रकार दुहराना चाहूँगा कि पाठक इस पुस्तक के विषय में केवल इसलिए उपेक्षा न रखें कि इसका विख्यात दार्शनिक नहीं है अथवा कि उसके नाम के आगे जन शब्द लगा है। पाठक तटस्थ अध्ययन के आधार पर ही प्रतिपादित विषय की यथार्थता का मूल्यांकन कर और यदि वह उनके हृदय और मस्तिष्क को ठीक लगे तो उससे लाभ उठाने का प्रयास करें।

इस पुस्तक में आत्मा का वार्ड स्वतन्त्र पदार्थ है इस गूढ़ विषय का वैज्ञानिक प्रणाली से अनुसंधान करके आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व का प्रतिपादन किया गया है।

आत्मा का क्या स्वरूप है? क्या संसार में भ्रमण कर रहा है? क्या इससे मुक्त हो सकता है? मुक्ति किन साधनों के द्वारा प्राप्त की जा सकती है? आदि आदि जटिल प्रश्नों का समाधान किया गया है। तृतीय भाग में संसार के मुख्य मुख्य धर्म एवं दर्शनों का समन्वय किया गया है। यह दिखलाया गया है कि सचाई सब धर्मों में है। अध्यात्मवाद रूप में एक सा है। विभिन्नता इस कारण में है कि इन धर्मों के संस्थापकों तथा दर्शनों के प्रतिपादकों ने विभिन्न परिस्थिति होने के कारण आत्मा के भिन्न भिन्न गुण और अवस्थाओं का पृथक पृथक दृष्टिकोणों से प्रतिपादन किया है। इन धर्मों का अध्यात्मवाद प्रचलित रीति रिवाज एवं क्रियाकाण्ड के नीचे छिप गया है।

वतमान युग वनानिक एव भौतिकवाद का युग है। वनानिक उन्नति के साथ वनानिक ढग से अस्त्र शस्त्र तयार हो रहे हैं महा भयकर अणुबम हाइड्रोजन बम आदि क राकेट द्वारा सहस्रो मीलो तक फके जाने की तयारी हो रही है। हम दो महा भयकर युद्ध देख चुके हैं। ससार के बड बड राष्ट्र नाना प्रकार के प्रलयकारी अस्त्रो का निर्माण करके उनका सग्रह कर रहे हैं। ससार ज्वालामुखी पर खडा है विनाश की ओर बढ रहा है। विज्ञान की उन्नति स धर्मों की जडें हिल गई हैं और जनता की श्रद्धा उन पर कम हो गई है।

भारत सदव आध्यात्मिक देश रहा है। इसने ससार को अध्यात्म का पाठ पढाया है। परन्तु आज भारत भी भौतिकवाद की ओर तेजी स बढ रहा है। प्रचलित धर्मों क क्रिया-काड पर जनता की श्रद्धा नही रही है। यद्यपि भारत स्वतत्र हो गया है तथापि भारतवासी पाश्चात्य देशो की आर्थिक उन्नति एव वभव के प्रकाश स चकाचौंध हाकर अमरीका तथा यूराप क रहन-सहन और तौर-तरीको का नकल कर रह हैं। भारतीय नेता देश को औद्योगिक क्षत्र म तजी स बढा रह हैं धन एकत्र करन क लिए अनेक प्रकार के कर लगा रह हैं। जनता की आर्थिक स्थिति खराब हा रही है और जीवन क सघषमय हा जाने स उनका नतिक पतन हो रहा है।

जबतक ससार म भौतिकवाद का जोर रहेगा तबतक एक क बाद दूसरे भनक विनाशकारी युद्ध होते रहेंगे और जनता को शान्ति नहा मिलगी।

यदि इस पुस्तक के अध्ययन से पाठको की रुचि अध्यात्मवाद की ओर बढी ता मैं अपन प्रयास को सफल समझूगा।

—रतनलाल जन

विषय-सूची

खण्ड १

आत्म अनुसंधान

खण्ड २

मध्य भाग

खण्ड ३

समन्वय या एकीकरण

आत्म-रहस्य

खण्ड १

आत्म-अनुसधान

१

विज्ञान-युग

प्रत्येक मनुष्य सुख की कामना करता है तथा उसकी खोज में घूमता है। किन्तु इन्द्रियों की तृप्ति के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न करता है। नेत्र व श्रवण इन्द्रिय को प्रसन्न करने के लिए नाच-गाना, थियेटर, सिनेमा आदि में जाता है। घ्राण इन्द्रिय को सन्तुष्ट करने के लिए इत्र तेल आदि सुगन्धित पदार्थों का सेवन करता है तथा नाना प्रकार के भोग विलास में लिप्त होता है। इन को सुख का साधन समझकर उनकी प्राप्ति के लिए दौड़ता है। नाना प्रकार के व्यापार करता है।

परन्तु इन इन्द्रिय-सुखों से उसकी तृप्ति नहीं होती। जितना अधिक सेवन इनका किया जाता है उतनी ही अधिक कामना प्रज्वलित होती जाती है। इस कामना का कभी भी अन्त नहीं होता। इसके अतिरिक्त इन्द्रिय सुख क्षणिक हैं। जबतक इनके भोग उपभोग में लगा रहता है तब तक ही उनके स्वाद का अनुभव आता है। ज्यों ही इन्द्रिय सुख का सेवन बन्द किया कि उसका आनन्द भी समाप्त हो गया, केवल तृष्णा (चाह) शेष रह जाती है। इस प्रकार यह इन्द्रियजन्य क्षणिक सुख भी दुःख रूप है।

अनेक प्रयत्न करने पर भी जब सुख उसको नहीं मिलता तो उसका ध्यान स्वभावतः सुख के स्वरूप की ओर आकर्षित होता है। सुख के स्वरूप जानने की उत्कण्ठा के साथ-साथ उसके हृदय में और प्रश्न उठने लगते हैं जैसे कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है, इस जीवन का उद्देश्य क्या है आदि आदि।

इन प्रश्नों के समाधान के लिए उसका ध्यान सहज ही अपने पूर्वज

महात्मा ऋषियों की कृति की ओर जाता है उनके रचित धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन म लगता है। भिन्न भिन्न दर्शन एव धार्मिक ग्रथो के पढ़ने से ज्ञात होता है कि भिन्न भिन्न आचार्यों ने उपरोक्त प्रश्नों का समाधान भिन्न भिन्न प्रकार म किया है कहीं कहीं इनका समाधान परस्पर विरोधी है। भिन्न भिन्न प्रकार के उत्तरों को पढ़कर उसका हृदय और भी उलझन म पड जाता है। उसकी समझ म नहीं आता कि वह किसके कथन को सत्य माने और किसके को असत्य।

इसके अतिरिक्त इन धार्मिक ग्रथों म जिस शैली का अनुसरण किया गया है उसमे हृदय को सन्तोष नहीं होता। इनकी शैली वैज्ञानिक पद्धति से मेल नहीं खाती। यह युग विज्ञान का है। मनुष्य की बुद्धि तीव्र एव सूक्ष्म आलोचिका हो गई है वह किसी बात को भी बिना अनुसधान व अन्वेषण किये मानने को तयार नहीं।

कुछ धार्मिक ग्रथों म तो ऐसा मान लिया गया है कि अमुक अवतार पैगम्बर या महर्षि ने ऐसा कहा है इसलिए यह मान्य है किसी को यह अधिकार नहीं कि उसकी आलोचना करे। किसी किसी ग्रथ म तर्क से भी काम लिया गया है परन्तु इस तर्क से भी सन्तोष नहीं होता। ऐसी दशा म मनुष्य बडा उलझन म पड जाता है और उसकी बुद्धि कुछ भी काम नहीं देती मन डावाडोल रहता है। निराश होकर वह अपने मन को उपयुक्त प्रश्नों के समाधान से हटाता है उसे प्रतीत होने लगता है कि इन प्रश्नों के समाधान म लगना निरी मूर्खता है। उसका मन धार्मिक कामों से हट जाता है। उनको लोक अपवाद के भय से करता है परन्तु उनमे उसका मन तनिक भी नहीं लगता। ऐसी परिस्थिति म उसका मन नास्तिकता की ओर झुकता है तरह तरह से मन को बहलाता है विवश हो सांसारिक एव गृहस्थ के कार्यों म व्यस्त होता है।

अत इस पुस्तक म किसी अवतार पैगम्बर देव या महर्षि द्वारा कथित शास्त्र को आधार नहीं माना है। प्रत्येक प्रश्न का समाधान वैज्ञानिक ढग पर किया गया है। पहिले भाग म अनुसधान द्वारा यह निश्चय किया गया है कि मनुष्य शरीर के भीतर एक अदृश्य पदार्थ और है, जिसको आत्मा के नाम से पुकारा जा सकता है उस आत्मा का वास्तविक स्वरूप चिदा

तन्मयी है। यह भी निश्चय किया गया है कि यह आत्मा संसार में सदा भ्रमण कर रहा है। दूसरे भाग में उस मार्ग का विवेचन किया गया है कि जिसपर चलकर आत्मा अपने वास्तविक चिदानन्द-स्वरूप को प्राप्त करके आनन्द का उपभोग अनन्त काल तक कर सकता है। तृतीय अर्थात् अंतिम भाग में यह दिखलाया गया है कि वर्तमान प्रचलित धर्म व दर्शनों में बहुत कुछ सत्य है जो अन्तर इन धर्म व दर्शनों में दिखलाई देता है वह भिन्न भिन्न आचार्यों के द्वारा आत्मा के भिन्न भिन्न गुण व अवस्थाओं का भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से निरूपण करने से उत्पन्न हुआ है। अन्त में वर्तमान मुख्य मुख्य धर्म और दर्शनों का समन्वय किया गया है।

२

पदार्थ की दो श्रेणियां

१—आत्मा और भौतिक पदार्थ

संसार के पदार्थों पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि जगत के समस्त पदार्थों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—पहली श्रेणी में उन समस्त जीवित पदार्थ या प्राणियों को रख सकते हैं जिनमें नेत्र के द्वारा संसार की भिन्न भिन्न वस्तुओं के देखने एवं कानों द्वारा दूसरों की बातें गाना आदि सुनने की शक्ति है, जो वस्तुओं को पहचान कर उनके भले बुरे होने पर विचार कर सकते हैं, जो सुख दुःख का अनुभव करते हैं जिनमें काम क्रोध आदि भावनाएं और इच्छा द्वेष आदि वासनाएं पाई जाती हैं, जो पिछली बातों का स्मरण रख सकते हैं और जिनमें संकल्प शक्ति पाई जाती है। इस श्रेणी में मनुष्य, गाय, बैल आदि पशु, कोयल, तोता आदि पक्षी और मगर, मच्छ आदि जलचर आते हैं।

दूसरी श्रेणी में इस जगत के वे समस्त भौतिक पदार्थ आते हैं जिनको हाथ से स्पर्श, नेत्र से अवलोकन या कान से श्रवण किया जाता है, जिनमें खट्टा, मीठा, कड़वा आदि किसी न किसी प्रकार का स्वाद है, जिनमें किसी न किसी प्रकार की सुगन्ध या दुर्गन्ध आती है परन्तु उनमें न पदार्थों के देखने, शब्द सुनने, पदार्थों को स्मरण रखने, पदार्थों के पहचानने, संकल्प शक्ति आदि का अस्तित्व है और न जिनमें काम, क्रोध आदि वासनाएं पाई जाती हैं। इस श्रेणी में समस्त निम्नलिखित भौतिक पदार्थ जैसे पत्थर, मिट्टी, काठ, मेज, कुर्सी आदि घन पदार्थ, जल, दूध, मदिरा, रुधिर आदि द्रव पदार्थ और वायु आदि तरल पदार्थ आते हैं।

पहली श्रेणी के मनुष्य आदि पदार्थ की जब परीक्षा की जाती है तो ज्ञात होता है कि मनुष्य को भी [illegible] दो विभागों में विभक्त किया जा सकता है—

मनुष्य का दृश्य भाग तो दूसरी श्रेणी के भौतिक पदार्थ से बिल्कुल मिलता जुलता है। वह नेत्र के द्वारा दृष्टिगोचर हस्त के द्वारा स्पर्श किया जाता है उसके शरीर से गन्ध आती है। मनुष्य जब मर जाता है उसका दृश्य भाग पड़ा रहता है और जब उसका अग्नि में दाह-संस्कार किया जाता है तो कुछ भाग जलकर वायु में मिल जाता है शेष भाग राख या हड्डी के रूप में पड़ा रहता है जो निःसन्देह भौतिक पदार्थ हैं। इसी प्रकार मनुष्य का शरीर दूध जल फल अन्न आदि भौतिक पदार्थों के द्वारा बाल अवस्था से पोषित होकर प्रौढ़ अवस्था को प्राप्त होता है। इन बातों से स्पष्ट है कि मनुष्य का दृश्य बाह्य भाग शरीर निःसन्देह भौतिक पदार्थ का बना हुआ है। मनुष्य के अदृश्य भाग का पता तो अन्त शेष रहता है।

२—देखने-सुननेवाला भौतिक पदार्थ से भिन्न

मनुष्य जब किसी पदार्थ को देखता है तो उस पदार्थ का चित्र उसके नेत्रों के अन्दर पुतली के पीछे बनता है और वहां से वह चित्र सूक्ष्म तन्तुओं के हलन चलन द्वारा मस्तिष्क तक पहुंचता है। यदि उस व्यक्ति का ध्यान उस पदार्थ की ओर होता है तो वह पदार्थ उसको दिखाई देता है एवं उसके अस्तित्व का भान उसको होता है। फिर वह व्यक्ति उस पदार्थ के गुण रूप आदि बातों पर विचार करता है।

यदि उस व्यक्ति का ध्यान उस पदार्थ की ओर नहीं होता है तो वह पदार्थ आंखों के सामने होता हुआ भी दिखलाई नहीं पड़ता है न उसके अस्तित्व का भान होता है। इस दशा में भी उस पदार्थ का चित्र आंख के भीतर पुतली के पीछे बनता है और वह सूक्ष्म तन्तुओं द्वारा मस्तिष्क तक पूर्ववत् पहुंचता है। केवल अन्तर यह है कि उस व्यक्ति का ध्यान इस दशा में उस पदार्थ की ओर नहीं है।

नेत्रों के सामने पदार्थ होने पर उसका चित्र नेत्रों के भीतर पुतली के पीछे बनना एवं सूक्ष्म तन्तुओं के हलन-चलन द्वारा मस्तिष्क तक पहुंचना, वैज्ञानिक नियमानुसार बराबर होता रहता है परन्तु मनुष्य के ध्यान पर विज्ञान का कोई भी नियम लागू नहीं होता। मनुष्य का ध्यान विज्ञान के समस्त परिचित नियमों से नितान्त स्वतन्त्र एवं भिन्न है।

यही दशा शब्द सुनने के समय होती है। शब्द कान तक पहुचता है वहा से सूक्ष्म तन्तुओं के हलन चलन द्वारा मस्तिष्क तक पहुच जाता है। यदि उस व्यक्ति का ध्यान शब्द की ओर है तो वह शब्द सुनाई पड़ता है यदि उसका ध्यान किसी अन्य वस्तु की ओर लगा है और उस शब्द की ओर नहीं है तो वह शब्द पास होता हुआ भी सुनाई नहीं पड़ता है।

इससे पता होता है कि मनुष्य के अन्दर भौतिक पदार्थ के अतिरिक्त कोई अन्य सूक्ष्म पदार्थ है, जिसके ध्यान देने पर मनुष्य निकटवर्ती बाह्य वस्तुओं को देख या पास होनेवाले शब्द को सुन सकता है और यदि उस सूक्ष्म पदार्थ का ध्यान बाह्य वस्तु या शब्द की ओर नहीं है तो वह व्यक्ति उस समीपवर्ती वस्तु को न देख सकता है और न पास में होनेवाले शब्द को सुन ही पाता है।

३—जानने अनुभव करनेवाला अखंड मूलतत्त्व

मनुष्य में जानने विचारने एवं अनुभव करने की शक्ति है। किसी भी भौतिक पदार्थ में यह गुण नहीं पाया जाता। भौतिक पदार्थ के बने हुए एंजिन को ले लीजिये वह मनुष्य की भांति चलता फिरता है। कोयला पानी के रूप में भोजन करता है परन्तु उसमें विचारने सोचने, या अनुभव करने की शक्ति का सर्वथा अभाव है।

मनुष्य के सामने जब कोई बात होती है तो वह उसपर विचारता है। उस बात की लाभ हानि एवं गुण दोषपर ध्यान देता है व अनेक प्रकार की योजनाएं बनाता है। इन सब बातों का भौतिक पदार्थ के बने एंजिन में सर्वथा अभाव है। अब प्रश्न उठता है कि यह ज्ञान व अनुभव मनुष्य में कहा से आया?

यदि यह कहा जाए कि किसी घटना या पदार्थ के सम्मुख उपस्थित हो जाने पर मस्तिष्क या शरीर के किसी भाग से एक प्रकार का सूक्ष्म पदार्थ निकलता रहता है जो विचारने या सोचने का कार्य करता है तो ऐसी दशा में यह मानना होगा कि समय समय पर भिन्न भिन्न घटना व बातों के सम्मुख उपस्थित हो जाने पर पृथक पृथक सत्ता रखनेवाले सूक्ष्म पदार्थ निकलते रहते हैं जो विचारने आदि का कार्य करते हैं। यह भी मानना

होगा कि मनुष्य के अन्दर पृथक्-पृथक् सत्ता रखनेवाले एक अनवस्थान सूक्ष्म पदार्थ हैं जो भिन्न भिन्न समय में सोचने का कार्य करते हैं। सूक्ष्म पदार्थ भिन्न भिन्न घटना व बातों से उत्पन्न हुए हैं इसलिए इन पदार्थों का कार्य व विचारने की शक्ति भी भिन्न भिन्न होगी। भिन्न भिन्न कार्य के होने से इनमें परस्पर विरोध भी होगा जिसका परिणाम यह होना चाहिए कि विरोधी कार्य होने से शरीर का एक भाग एक प्रकार का कार्य करे और दूसरा भाग बिल्कुल उसके विपरीत विरोधी कार्य करे या इनमें परस्पर टक्कर लग जाने से ये सूक्ष्म पदार्थ कार्य शक्ति विहीन हो जाय। परन्तु ऐसा देखने व अनुभव में नहीं आता। मनुष्य बराबर सोचता विचारता रहता है। कभी भी उसकी विचार शक्ति नष्ट नहीं होती। इसलिए यही मानना पड़ेगा कि ज्ञान विचारने की शक्तिवाला एक सरल पदार्थ है जिसमें पृथक्-पृथक् विरोधी अंश नहीं हैं और जिसका कार्य सतत व लगातार होता रहता है। इससे इसी परिणाम पर पहुंचा जाता है कि मनुष्य के भीतर जानने अनुभव करनेवाला मस्तिष्क से भिन्न अखंड मूल तत्त्व है।

४—स्मरण रखनेवाला पदार्थ पुद्गल[1] से पृथक्

मनुष्य व भौतिक पदार्थ के बने हुए एंजिन में एक और भी अन्तर है। मनुष्य पहली बातों का स्मरण रख सकता है। पहले देखे हुए पदार्थ पर दृष्टि पड़ते ही वह कह देता है कि यह वही पदार्थ है कि जिसको मैंने पहले अमुक समय पर देखा था। इस स्मरण शक्ति का एंजिन में सर्वथा अभाव है। स्मरण शक्ति बतलाती है कि जिसने पहले वस्तु को देखा था, वही देखनेवाला आज भी विद्यमान है।

यह स्मरण शक्ति कहां से आ गई? यदि यह कहा जाय कि किसी घटना या वस्तु के सम्मुख उपस्थित होने पर मस्तिष्क या शरीर के किसी विशेष भाग में सूक्ष्म अंश निकलते रहते हैं जिनका कार्य स्मरण रखना है

[1] जैनदर्शन ने भौतिक पदार्थ के लिए पुद्गल शब्द का प्रयोग किया है।

तो ऐसी घटना व वस्तुएं प्रत्येक समय होती रहती हैं इसलिए यह भी मानना होगा कि उपरान्त प्रकार के सूक्ष्म अंश भी लगातार निकलते रहते हैं। इन सूक्ष्म अंशों का या तो इकट्ठा होते रहना मानना होगा या यह मानना होगा कि जब दूसरे क्षण में नवीन अंश आ जाते हैं तो पहले अंश नष्ट हो जाते हैं। यदि पहले अंशों का नष्ट होना माना जाय तो स्मरण हो नहीं सकता। जिन सूक्ष्म अंशों ने पहले वस्तु को देखा था जब वे ही नहीं तो पहचानेगा या स्मरण रखेगा कौन?

यदि मनुष्य के अन्दर भिन्न भिन्न समय में उत्पन्न हुए सूक्ष्म अंशों का एकत्रित होना माना जाय तो यह असम्भव है कि एक क्षण के अनुभव को अन्य क्षणों के अनुभव में मिलाकर कोई परिणाम निकाला जा सके क्योंकि इन पृथक् पृथक् अंशों के अनुभव का समन्वय करनेवाला कोई विशेष अंश नहीं है। इसलिए यही मानना पड़ेगा कि स्मरण रखनेवाला पुद्गलों से भिन्न कोई विशेष अखंड मूल तत्व है जो पहले जानी हुई बातों का स्मरण रख सकता है।

५—मनुष्य में संकल्प शक्ति

मनुष्य और एंजिन की क्रियाओं को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि मनुष्य में संकल्प शक्ति है कि मैं आज अमुक कार्य करूंगा। यह संकल्प शक्ति मनुष्य में राजा के सदृश है। राजा की आज्ञा पाते ही जैसे मंत्री आदि आधीन पुरुष कार्य करने लगते हैं ठीक उसी प्रकार संकल्प होते ही मनुष्य के हाथ पैर आदि कर्मेन्द्रिया उसके संकल्प के अनुसार काम करने लगती हैं। किसी मनुष्य ने संकल्प किया कि मैं वायुसेवन करने के लिए अभी पुष्प वाटिका में जाता हूँ। संकल्प के होते ही उसका शरीर जो पहले लेटी हुई अवस्था में चेष्टा रहित था खड़ा हो जाता है और पुष्प-वाटिका की ओर जाता हुआ दृष्टिगोचर होता है। भौतिक एंजिन में इस संकल्प शक्ति का सर्वथा अभाव है। एंजिन में यह कभी नहीं पाया जाता कि वह संकल्प करे कि मैं आज चलूंगा विश्राम करूंगा आदि। एंजिन के सदृश किसी भी भौतिक पदार्थ में यह संकल्प शक्ति नहीं पाई जाती। इस संकल्प-शक्ति पर प्रकृति का कोई भी नियम लागू नहीं होता। यह

संकल्प शक्ति इस बात का द्योतक है कि इनका कारण कोई सूक्ष्म मूर्त तत्त्व मनुष्य के भीतर अवश्य है जिसका स्वरूप भौतिक पदार्थ से सर्वथा भिन्न है।

६—काम क्रोध आदि भावनाएं

मनुष्य की चेष्टा व एञ्जिन की क्रियाओं के निरीक्षण से ज्ञात होता है कि एक और विषय में भी इन दोनों में बड़ी विभिन्नता है। मनुष्य कभी क्रोध कभी मद के आवेश में दिखाई देता है, कभी लोभ के वशीभूत हुआ अनेक प्रकार के भाव एवं कामनायें प्रदर्शित करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार मनुष्य में अनेक प्रकार की भावनाएं पाई जाती हैं। एञ्जिन में इस प्रकार की भावनाओं के अस्तित्व का सर्वथा अभाव है। मनुष्य की इन अनेक प्रकार की भावनाओं पर प्रकृति का कोई भी नियम लागू नहीं होता। यदि ये काम क्रोध आदि भावनाएं मनुष्य के भौतिक मस्तिष्क आदि किसी अंग से उत्पन्न होतीं तो इन भावनाओं पर भौतिक पदार्थ-सम्बन्धी नियम लागू होते। यह नहीं होता कि मनुष्य में विद्यमान भावनाएं प्राकृतिक नियमों का सर्वथा उल्लंघन करतीं। प्राकृतिक नियमों से सर्वथा स्वतन्त्र अनेक प्रकार की राग-द्वेष आदि भावनाओं के अस्तित्व से प्रमाणित होता है कि इन भावनाओं का धारक पदार्थ मनुष्य में अवश्य है जो पुद्गल से सर्वथा भिन्न है।

७—ज्ञान, संकल्प-शक्ति, राग-द्वेषादि

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि मनुष्य में शब्द सुनने पदार्थ देखने हित अहित पहिचानने पहली बातों को स्मरण रखने के गुण संकल्प शक्ति एवं राग द्वेष आदि भावनाएं भौतिक पदार्थ से उत्पन्न नहीं होतीं। गुण कभी भी बिना आधार किसी वस्तु से स्वतन्त्र रूप से नहीं पाये जाते हैं अपितु किसी-न-किसी वस्तु में रहते हैं। ऐसा दिखाई नहीं देता कि गुण विद्यमान हो किन्तु उसका धारक वस्तु विद्यमान न हो। उष्णता एक गुण है जो अग्नि आदि पदार्थों में पाया जाता है। उष्णता गुण बिना किसी वस्तु के आधार, स्वतन्त्र रूप से कभी अनुभव नहीं किया जाता। उष्णता

गुण मात्र निराधार न किसी वस्तु के आधार पर रहता है। यही बात अन्य गुणों के सम्बन्ध में है। लाल रंग को ही लीजिये। यह किसी न किसी वस्तु का रंग होता है। यह नहीं हो सकता कि बिना आधार किसी वस्तु के रंग वर्ण स्वतन्त्र रूप में विद्यमान हो। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्रत्येक गुण के लिए आवश्यक है कि उस गुण को धारण करनेवाला कोई गुणी पदार्थ हो। यह तो हो सकता है कि गुणों की धारक वस्तु नेत्र आदि इन्द्रियों के गोचर न हो परन्तु हो।

मनुष्य में रूप सुनना पदार्थ देखना, पहली बातों के स्मरण रखने सम्बन्ध करना एवं राग द्वेष आदि भावनाओं की जो विशेषताएं विद्यमान हैं वे समस्त गुण हैं। कोई भी गुण किसी गुणी पदार्थ के आधार बिना विद्यमान नहीं रह सकता है इसलिए उपयुक्त गुणों के धारण करनेवाले एक या अधिक गुणी पदार्थ अवश्य होना चाहिए। अब यह जानना शेष रह जाता है कि उपयुक्त समस्त गुणों का धारण करनेवाला एक ही पदार्थ है या एक से अधिक।

प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण होते हैं जो उसमें एक ही साथ एक ही समय में पाये जाते हैं। दृष्टान्त के तौर पर गुलाब के फूल को लीजिये। यह स्पर्श करने में कोमल देखने में गुलाबी रंग का प्रतीत होता है। उसमें सुगन्ध व एक प्रकार का विशेष स्वाद होता है। शीतलता स्वास्थ्य वर्धकता हृदय ग्राह्यता रोचकता आदि अनेक गुण इस पुष्प में एक ही साथ एक ही समय में पाये जाते हैं। इन समस्त गुणों के एक ही पदार्थ में एक ही साथ रहने में कोई आपत्ति नहीं आती। केवल वे गुण—जो परस्पर विरोधी होते हैं—किसी वस्तु में एक साथ एक समय में नहीं रह सकते हैं। गुलाब के पुष्प में सुगन्ध के साथ दुर्गन्ध कोमलता के साथ रूक्षता गुलाबी वर्ण के साथ हरित, पीत आदि वर्ण उसके विशेष स्वादु के साथ अन्य स्वाद स्वास्थ्य-वर्धकता के साथ हानि प्रदायित्व, हृदय-ग्राह्यता के साथ घृणास्पदता रोचकता के साथ मन विरोधक आदि विरोधी गुण एक साथ एक समय में विद्यमान नहीं रह सकते। अग्नि का स्वभाव उष्णता है उसमें शीतलता का गुण वास नहीं कर सकता। यदि अग्नि में शीतलता प्रवेश कर जाय तो वह अग्नि अग्नि ही नहीं रहेगी उष्णता के नष्ट होने के साथ-साथ अग्नि का भी

ज्ञात हो जायगा।

विचारने से ज्ञात होता है कि शब्द सुनने पदार्थ देखने आदि ग्रहिण पहचानने पूर्व-ज्ञात की बातों को स्मरण रखने में ज्ञान-गुण से ही काम लिया जाता है। किसी वस्तु को नेत्र श्रवण आदि इन्द्रियों के द्वारा पहले जाना जाता है फिर उस वस्तु पर विचार किया जाता है कि यह लाभ दायक है या हानिकारक। फिर उस वस्तु के स्मरण रखने की आवश्यकता होती है। उपरोक्त मानसिक चेष्टाओं में ज्ञान गुण ही प्रयोग में लाया जाता है। इन ज्ञान चेष्टाओं में इन्द्रियों के द्वारा किसी वस्तु का जानना ज्ञान की प्रथम अवस्था है उस वस्तु के हित अहित पर विचारना ज्ञान की द्वितीय अवस्था है विचारने के पश्चात् स्मृति में रखना उसी ज्ञान की तृतीय अवस्था है। इस प्रकार शब्द सुनने पदार्थ देखने हित अहित पहचानने पहली बातों के स्मरण रखने आदि का—ज्ञान-गुण की भिन्न भिन्न अवस्थाएं होने के कारण—ज्ञान गुण में ही समावेश हो जाता है।

ज्ञान-गुण संकल्प शक्ति एवं राग द्वेषादि भावनाओं में परस्पर विरोध विचार करने से ज्ञात नहीं होता। ऐसा प्रतीत नहीं होता कि यदि किसी पदार्थ का स्वभाव ज्ञानमयी है तो उस स्वभाव के साथ साथ अन्य दोनों गुण—संकल्प शक्ति व राग द्वेषादि भावना—विद्यमान न रह सकें। इस कारण निम्नलिखित बातों से प्रकट होता है कि इन तीनों गुणों का आधार एक ही वस्तु है।

मानव-समाज का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि इस संसार में ऐसा कोई व्यक्ति दृष्टिगोचर नहीं होता कि जिसमें ये तीनों गुण एक साथ न पाये जाते हों। ऐसा कोई व्यक्ति दिखाई नहीं देता है कि जिसमें ज्ञान हो परन्तु उसमें राग द्वेष आदि किसी भी प्रकार की भावना का अस्तित्व न हो या उसमें संकल्प या इच्छाशक्ति न हो। इन तीनों गुणों के एक ही साथ पाये जाने से प्रतीत होता है कि इन तीनों गुणों का आधार एक ही पदार्थ है। इसके अतिरिक्त यह युक्तिसंगत भी है कि जब इन तीन गुणों के आधार के सम्बन्ध में एक ही पदार्थ के मान लेने से काम चल जाता है तो एक से अधिक पदार्थ मानने की आवश्यकता ही क्या है।

इन गुणों पर गहन दृष्टि से विचारने से ज्ञात होता है कि इन तीनों

गुणों के अन्तगत 'अनुभव-गुण' (Realization) महसूस करना किसी न किसी दशा में पाया जाता है। मनुष्य जब किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करता है तो उसका चित्र उसके मस्तिष्क के अन्दर खिंच जाता है। उस समय उस वस्तु का अनुभव उसको होता है। इसी भांति मनुष्य जब कोई कार्य करने का संकल्प करता है और उसका समस्त शरीर उस संकल्प के अनुसार कार्य करने में प्रवृत्त होता है उस (संकल्प) समय उस मनुष्य को अपनी शक्ति का अनुभव होता है। इसी प्रकार मनुष्य जब क्रोध अभिमान आदि किसी भावना के वशीभूत होता है उस समय उसको उस भावना के अन्तगत सुख या दुःख का अनुभव होता है। इस प्रकार उपरोक्त तीनों गुणों के अन्तगत अनुभूति गुण किसी-न किसी दशा व अंश में अवश्य पाया जाता है। इससे यही प्रमाणित होता है कि मनुष्य में भौतिक शरीर के अतिरिक्त केवल एक ही पदार्थ है जिसके ज्ञान संकल्प शक्ति एवं राग द्वेष आदि भावना चिह्न हैं। इस पदार्थ (द्रव्य) को आत्मा या जीव कह सकते हैं।[1]

---

[1] दार्शनिकों ने ज्ञानधारी पदार्थ को आत्मा और जीव कहा है, इसलिए यही नाम रखने उचित प्रतीत होते हैं।

३

आत्मा के सम्बन्ध में विज्ञान की राय

१—विज्ञान का प्रारम्भिक काल

पाश्चात्य वैज्ञानिकों में आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। प्रारम्भिक काल में विज्ञान भौतिक पदार्थों के गुण-स्वभाव आदि बातों के जानने तथा ताप प्रकाश विद्युत आदि प्राकृतिक शक्तियों के अनुसंधान में लगा रहा। मनुष्य के जीवन एवं आत्म स्वभाव ज्ञान राग द्वेष आदि भावना इत्यादि प्रश्नों की ओर उसका ध्यान न था। इन प्रश्नों को न केवल उपेक्षा की दृष्टि से प्रत्युत घृणा व विरोध की दृष्टि से देखता था।

विज्ञान की दृष्टि में उस समय आत्मा-सम्बन्धी प्रश्न बेकार समय को नष्ट करनेवाले एवं मानव समाज को अन्धकार में डालनेवाले थे। उसका विश्वास था कि आत्मा सम्बन्धी प्रश्नों की व्याख्या करनेवाले धर्मों से संसार का बड़ा अहित हुआ है। इन धर्मों ही के कारण मानव-समाज में रुधिर की नदियाँ बही हैं। इन धर्मों ने ही उसको प्राचीन काल में आगे बढ़ने से रोका था। ईसाई धर्मावलम्बियों ने तो विज्ञान पर उसके बाल्य काल में घोर अत्याचार किये थे। गलिलियो आदि आविष्कारकों को जेल मृत्युदण्ड आदि अनेक यातनाएँ दी हैं तथा उसके समूलोन्मूलन के सब ही उपाय प्रयोग में लाये गए हैं। ऐसे संकटाकीर्ण मार्ग तथा विकट परिस्थितियों में से होकर विज्ञान को आगे बढ़ना पड़ा है। विज्ञान ने आधुनिक मानव समाज में वर्तमान उच्च पद अपने पुजारी वैज्ञानिकों के असीम उत्साह व त्याग के कारण ही प्राप्त किया है। ऐसी दशा में विज्ञान का धर्म के प्रति उपेक्षा व विरोध का होना स्वाभाविक ही था। ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया विज्ञान का विरोध धर्म के प्रति धीरे धीरे कम होता गया धीरे धीरे विरोध उपेक्षा के भाव में परिवर्तित हो गया। कुछ समय से यह उपेक्षा का भाव भी कम होने लगा है और वैज्ञानिकों का ध्यान जीवन

सम्बन्धी प्रश्नों की ओर जाने लगा है।

अब तक तो दर्शन और विज्ञान में बड़ा भेद था। वैचारिक पदार्थ विज्ञान के विकास से इनकी सीमाएं नज़दीक आ गई हैं जैसा कि सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जीन्स ने पदार्थ विज्ञान और दर्शन नामक अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखा है—

दर्शन और पदार्थ विज्ञान की सीमा रेखा जो सारहीन दीखती थी वैचारिक पदार्थ विज्ञान के अर्वाचीन विकास के कारण अब वह सीमा बड़ी आकर्षक एवं महत्वपूर्ण हो गई है।

दर्शन और विज्ञान अब तक विपरीत दशाओं में पथिक माने जाते थे। अब वह युग समाप्त हो गया। यथार्थ यह है कि दर्शन मनुष्य के मस्तिष्क में उत्पन्न हुए प्रश्न कि क्या तत्त्व हैं? मैं क्या हूँ आदि का समाधान है। विज्ञान का लक्ष्य भी सत्य की खोज है। दर्शन का विषय जीवन की व्याख्या की खोज है। विश्व का क्या स्वरूप है? मैं कौन हूँ? कहां से आया हूँ? मेरा क्या स्वरूप है? दुःख से मुक्ति एवं आनन्द कैसे प्राप्त किया जा सकता है? आदि प्रश्नों का समाधान करना और जीवन के लक्ष्य मुक्ति के मार्ग की विवेचना करना दर्शन का मात्र विषय है। विज्ञान अब तक भौतिक पदार्थों के गुण व अवस्थाओं का नाना अनेक प्रकार के अनुसन्धान करके निश्चय करता रहा है और इसमें उसने बहुत अधिक उन्नति की है। वैज्ञानिक सत्य की खोज में बराबर लगे रहे हैं। जब कोई वैज्ञानिक नई खोज करता है और नई खोज में पूर्व मान्य धारणाओं में दोष निकालता है तो वैज्ञानिक जगत उस नई खोज को मान्य समझकर पूर्व धारणाओं के त्यागने में तनिक भी नहीं हिचकते। दार्शनिक व उनके अनुयायियों की गति इसके विपरीत है। वे अन्धश्रद्धालु होते हैं अन्य दर्शनों की बात मानने को तैयार नहीं होते हैं।

गत उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त से अनेक वैज्ञानिकों ने विशेषकर मनोवैज्ञानिकों ने इस प्रश्न पर विचार किया है। प्राचीन वैज्ञानिकों में से अधिकतर ज्ञान को भौतिक मस्तिष्क में उत्पन्न हुआ मानते थे। उनके विचार में आत्मा पुद्गल भौतिक पदार्थ से पृथक कोई वस्तु न थी। ज्ञान स्मृति, राग द्वेष आदि अनेक प्रकार की मानसिक चेष्टाओं को मनोवैज्ञ

नान्ट्राजन तत्त्व के मत परमाण फासफोरस तत्त्व के मत परमाणु तथा कार्बन का जाति उन समस्त तत्त्वों के मत परमाण जिनसे मस्तिष्क बना है ले लीजिये। विचारिये कि परमाण पथक्-पृथक एव चानशून्य है फिर विचारिये कि य परमाण साथ साथ दौड रहे हैं और परस्पर मिश्रित होकर जितने प्रकार के भी स्कध हो सकते हैं बना रहे हैं। इस शुद्ध यांत्रिक क्रिया का चित्र आप अपने मन म खींच सकते हैं। क्या यह आपकी दृष्टि, स्वप्न या विचार म आ सकता है कि इस यांत्रिक क्रिया या इन सब परमाणुओं म बोध विचार एव भावनाए उत्पन्न हो सकती हैं ? क्या पासो के खटखटाने से होमर कवि[1] या बिलियर्ड खेल की गेंद के खनखनाने से गणित का डिफरेंशियल कलकुलस निकल सकता है ? आप मनुष्य की इस जिज्ञासा का कि परमाणुओं के परस्पर सम्मिश्रण की यांत्रिक क्रिया से ज्ञान की उत्पत्ति कैसे हो गई सतोषप्रद उत्तर नहीं दे सकते।

बटलर महोदय की इस प्रबल युक्ति से बचने के लिए आचाय टेंडल ने पदगल शब्द की व्याख्या ही बदल दी। आचाय टेंडल ने कहा है कि यदि पुद्गल शब्द का वही अर्थ ले जो विज्ञान की पुस्तकों में दिया हुआ है तो यह विचार में नहीं आ सकता कि ज्ञानमय जीवन भौतिक पदार्थ से कैसे उत्पन्न हो गया। पादरी बटलर के युक्तिसगत तक से पुराना विचार—ज्ञान व आत्मा भौतिक पदार्थ म ही उत्पन्न होता है—खण्डित हो जाता है। आचाय महोदय कहते हैं कि जिन्होंने पुद्गल शब्द की व्याख्या की है उन्होंने पुद्गल को सब दृष्टिकोणों से नहीं देखा था व गणितज्ञ या वैज्ञानिक थे उनका विज्ञान यांत्रिक विधान तक सीमित था। वे जीवन व मनोविज्ञान के ज्ञाता न थे उन्होंने जीवन विज्ञान का अध्ययन नहीं किया था। इसलिए आचाय महोदय पुद्गल की व्याख्या म ज्ञान व भावना को भी सम्मिलित करते हैं क्योंकि आत्मा शरीर से पृथक नहीं पाया जाता।

आचाय महोदय का पुद्गल की व्याख्या म ज्ञान व भावना युक्त आत्मा को सम्मिलित कर लेना उचित नहीं है। पुद्गल चेतनता रहित ज्ञानशून्य

---

[1] होमर यूनान देश का अत्यन्त विख्यात प्राचीन कवि है जिसकी इलियड और आडसी कृतियाँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

जड़ पदार्थ है और आत्मा चेतनायुक्त ज्ञानमयी द्रव्य है। इन दोनों पदार्थों के गुणों में परस्पर घोर विरोध पूर्ण वपरीत्य है। यह असम्भव है कि एक ही पदार्थ का स्वभाव जड व अचेतन हो और साथ-साथ उसका स्वभाव ज्ञानमयी व चेतन भी हो। यह पहले ही निर्णय किया जा चुका है कि किसी वस्तु में दो परस्पर विरोधी गुण एक साथ एक ही समय में विद्यमान नहीं रह सकते हैं। इसलिए अचेतन जड गुण व चेतन ज्ञान गुण—इन दो प्रतिपक्षी गुणों—के धारण करनेवाले दो भिन्न भिन्न पदार्थ मानने होंगे जिनको कि पुद्गल व आत्मा कहते हैं। मनुष्य—भौतिक शरीर व ज्ञानमयी आत्मा—दो भिन्न भिन्न पदार्थों का मयुक्त प्राणी है।

विज्ञान-वेत्ता श्री मक्डूगल लिखते हैं हम इस बात के मानने के लिए बाध्य हैं कि केवल मानसिक चेष्टाओं का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है वरन य एक ही पदार्थ या मूलतत्त्व की अवस्थाएं विशेष हैं। हमको यह पदार्थ अमूर्तिक मानना होगा। क्योंकि यही पदार्थ मनुष्य के सम्पूर्ण ज्ञान का आधार है इसलिए इस पदार्थ को मनुष्य की आत्मा कह सकते हैं।[1]

मेरा विश्वास है कि सारी प्रकृति में चेतना काम कर रही है?[2]

—प्रो० अलबर्ट आइंस्टीन

कुछ अज्ञात शक्ति काम कर रही है हम नहीं जानते वह क्या है? मैं चेतना को मुख्य मानता हू भौतिक पदार्थ को गौण। पुराना नास्तिकवाद चला गया है। धर्म आत्मा और मन का विषय है और वह किसी प्रकार भी हिलाया नहीं जा सकता।[3]

—सर ए एम० एडिंगटन

आजकल इस बात में बहुत अधिक लोग सहमत हैं कि ज्ञान की सरिता अयान्त्रिक वास्तविक तत्त्व की ओर बह चली है। अब विश्व यन्त्र की अपेक्षा विचार के अधिक समीप लगता है। मन ऐसी वस्तु दिखाई नहीं पड़ती जो

[1] फिजियालाजीकल साइकोलाजी।

[2] 'दि माडर्न रिव्यू' कलकत्ता जुलाई १६३६

[3] दि माडर्न रिव्यू' कलकत्ता, जुलाई १६३६

नाउ रा दुनिया म अवरमान टाक पडी हो।[1]

—सर जेम्स जीन्स

गुरु धम मस्थापक व बहुत सार दार्शनिक प्राचीन हो या अर्वाचीन, पश्चिम क ग या पूव के सबने अनुभव किया है कि यह अज्ञात या अज्ञय तत्व व स्वय हा हैं।[2]

—हबर्ट स्पेन्सर

सत्य यह है कि विश्व का मौलिक तत्व जड बल या भौतिक पदाथ नहीं है किन्तु मन व चेतन व्यक्तित्व है।[3]

—जे० बी० एम० हल्डन

एक निणय जो कि यह बतलाता है कि मत्यु क पश्चात् चेतनाधारी आत्मा की सम्भावना है ज्योति काष्ठ म भिन्न है, काष्ठ तो उसे प्रज्ज्व लित करने क लिए इधन का काय करता है।

—आथर एच० काम्पटन

वह समय अवश्य आयेगा जब विज्ञान अज्ञात विषयो का अन्वेषण कर सकेगा। जसा कि हम सोचते थे उसम भी कहीं अधिक विश्व का आध्या त्मिक अस्तित्व है। वास्तविकता यह है कि हम आध्यात्मिक जगत क मध्य म हैं जिसका प्रभाव भौतिक जगत के ऊपर है।

जस मनुष्य दो दिन के बीच रात्रि म स्वप्न देखता है उसी प्रकार मनुष्य की आत्मा इस जगत म मत्यु व पुनजन्म के बीच विहार करती है।

—सर आलीवर लाज

'कुछ विद्वानो ने जिनकी मा यता मिटीपाराटर विहीवल ध्योरी म है यह सुझाव दिया है कि जीवन उतना ही पुराना है जितना कि जड।[4]

—पी० गेड्डस

[1] मिस्टीरियस यूनिवस' पृ० १३७
[2] फस्टप्रिंसिपल्स १६००
[3] दि मॉडन रिव्यू जनवरी १६३६
[4] इवोल्यूशन पृ० ७०

मेरी राय में केवल एक ही मुख्य तत्त्व है जो देखता है, अनुभव करता है, प्रेम करता है, विचारता है, याद करता है आदि। परन्तु इस तत्त्व को अपने भिन्न भिन्न कार्य करने के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के भौतिक साधनों की आवश्यकता पड़ती है।

—डा० गाल

'पृथ्वी पर जीवन कैसे प्रारम्भ हुआ, इसका कोई उत्तर विज्ञान के पास नहीं है।'[1]

—जे० ए० थामसन

यह जगत बिना रूह की मशीन नहीं है। इत्तिफाक से यों ही नहीं बन गया है। जड़ के पीछे के पीछे एक दिमाग, एक चेतनाशक्ति काम कर रही है, चाहे उसका कुछ भी नाम क्यों न रखें।

—ग्रेट डिजाइन[2]

समस्त प्राणि जगत में ऐसी प्रक्रियाएँ हैं जो मन से सम्बन्धित हैं। अमीबा से लेकर मनुष्य तक आन्तरिक और वैयक्तिक जीवन का झरना है जो कभी बहुत पतला और कभी अत्यन्त बलवान बहता है। भावना, विचार, कल्पना सब इसके अन्तर्गत हैं। बेसुध अवस्था भी इसीके अन्तर्गत है।[3]

—साइंस एण्ड रिलीजन

'जगत् के जितने भी सत्य गत बीस वर्षों में ज्ञात हुए हैं वे सब आत्मवाद पर आधारित हैं, यही विज्ञान का अन्तिम विश्वास है।

कुछ समय पूर्व वैज्ञानिक क्षेत्र में किसी सीमा तक यह फैशन था कि [illegible] के सम्बन्ध में अपने को अज्ञान कहें, परन्तु आज जो व्यक्ति अपनी अज्ञानता पर गर्व करे उसे बुरा समझा जाता है और उसपर उसकी हँसी उड़ाई जाती है। अब यह पहलेवाला दृष्टिकोण नहीं है। इसका श्रेय विज्ञान को है।'[4]

---

[1] इंट्रोडक्शन टू साइंस पृ० १४२

[2] ग्रेट डिजाइन एक पुस्तक है जिसमें संसार के प्रमुख वैज्ञानिकों ने अपनी सामूहिक राय दी है।

[3] साइंस एण्ड रिलीजन पृ० ६२

[4] टूविल पृ० ८५ ८८

अमरीका के अन्तर्गत वर्जीनिया प्रदेश के श्री डयूरी जून १८६६ के मडिको लीगल पत्रिका में निम्नलिखित घटना का वर्णन करते हैं—

श्री के०एक व्यापारी था जिसकी आयु पचास वर्ष थी। उसका शरीर हृष्ट पुष्ट सुगठित था वह शान्ति प्रिय सच्चरित्र परिश्रमी, प्रसन्नचित्त और अपने परिवार से सन्तुष्ट था। एक दिन वह दूसरे नगर को अपने व्यापार के लिए सामान मोल लेने के लिए गया। वहां दो दिन तक ठहरा, कितना हो व्यापार किया मित्रों से मिला और फिर वापस आने के लिए जहाज पर चढ़ गया। जहाज पर जब टिकट इकट्ठा करने का समय आया तो वह वहा पर नही पाया गया ढूढ़ने पर उसका कोई पता नही चला। छः मास पश्चात अकस्मात वह घर आया। उसका वजन ढाई सौ पौंड से घटकर एक सौ पचास पौंड रह गया था। वह बहुत दुबल और कुछ विक्षिप्त-सा था। पहले के ही वस्त्र पहने हुए था। जहाज के कमरे की ताली उसकी जेब में थी। जब उसको होश आया तो उसने अपने आपको एक सडक पर फलों की गाडी हाकते हुए पाया। उसको तनिक भी स्मरण न था कि वह वहां कैसे कब और कहां से आया और वह क्या कर रहा है। इन सब प्रश्नों का समझना उसके लिए कठिन समस्या हो गई थी। वहा से चलकर वह अपने घर आ गया। उसको जहाज के कमरे में प्रवेश करने का स्मरण था परन्तु उसके पश्चात के छः मास की तनिक भी स्मृति न थी कि वह कहां-कहां गया और कहां कहा रहा।

कुछ ऐसे व्यक्ति देखे गये हैं कि जिनमें दो या तीन व्यक्तित्व पाये गए हैं। निम्नलिखित वृत्तान्त १८६५ की अमरीकन मडीकल एसोसिएशन की पत्रिका में दिया है।[1]

एलमा जड एक अत्यन्त स्वस्थ बुद्धिमती बालिका थी। अति परिश्रम के कारण उसका स्वास्थ्य बिगड गया। दो वर्ष तक रुग्ण रहने पर उसमें अकस्मात् दूसरे व्यक्तित्व का प्रादुर्भाव हुआ। उसने अमरीका के आदि वासियों की बालिकाओं की भांति एक अनोखी भाषा में अपना नाम 'ट्वाई

[1] दी ह्यूमन परसनलिटी एण्ड इटस सरवाइवल आव बाडीली डथ,' पेज २२५

बतलाया और प्रगट किया कि वह पहिले व्यक्तित्व की सहायता के लिए आई है। टुआई फुर्तीली प्रसन्नचित्त अनोखी हास्ययुक्त बात करनेवाली लडकी थी। जब एल्मा जड के शरीर पर टुआई का प्रभुत्व होता था तब वह भली भांति भोजन करती थी और कहती थी कि पहिले व्यक्तित्व एल्मा जड के लाभ के लिए वह भोजन कर रही है। टुआई के रहने की दशा में शारीरिक अवस्था में कितनी ही उन्नति प्रतीत होती थी। एल्मा जड (पहिले व्यक्तित्व) को टुआई के रहने के समय की कार्रवाई का ज्ञान नहीं होती थी। इस प्रकार एक ही शरीर में दो भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व रहते थे।[1] भौतिक मस्तिष्क से एक ही परिस्थिति में दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति कैसे उत्पन्न हो सकते हैं?

२—अदभुत ज्ञान चमत्कार

कितने ही मनुष्यों के ऐसे उदाहरण हैं जो विस्मय में [illegible] मानसिक शक्तियों का परिचय देते हैं। इन उदाहरणों में [illegible] बालकों के हैं जो गणित-सम्बन्धी कठिन प्रश्नों का उत्तर [illegible] हैं जिनका समाधान मनुष्य कागज-पेंसिल द्वारा कितने ही [illegible] पाते हैं। मेयस महोदय ने अपनी उपर्युक्त पुस्तक में एन [illegible] दिये हैं जिनमें प्रसिद्ध गणितज्ञ गाम व एम्पेयर के नाम [illegible]

---

[1] लेखक ने स्वयं एक शरीर में दो भिन्न भिन्न व्यक्तित्व [illegible] एक महिला के शरीर में दूसरी मृत महिला का व्यक्तित्व [illegible] पर अपना प्रभुत्व जमा लेता था, दूसरी महिला के व्यक्तित्व [illegible] पर उसके बर्ताव रहन व बोलने के ढंग और स्वभाव में [illegible] था। दूसरी महिला का व्यक्तित्व पहिली महिला के [illegible] कई दिन तक रहता था भोजन आदि कार्य भी कर [illegible] महिला का व्यक्तित्व शरीर में से निकल जाना [illegible] का व्यक्तित्व प्रगट हो जाता था। पहिली महिला [illegible] जब कि उसके शरीर में दूसरी महिला के व्यक्तित्व [illegible] किसी बात या कार्य का भी ज्ञान न होता था।

एक उदाहरण उद्धृत किया जाता है।[1]

स्काटलैंड में एडिनबरा नगर के इंजीनियर श्री ब्लीथ ने, जबकि वह ६ वर्ष का बालक था अपने पिता से अपने जन्म का समय पूछा। पिता के दिन व घंटा बतलाने पर बालक ने एकदम कहा तब पिताजी मेरी आयु इतने सकण्ड की है इसपर सकंडों की गणना की गई और बालक के उत्तर में १७२८०० सकडों का अन्तर पाया गया। बालक ने कहा कि आप गणना में दो लौंद के वर्षों को भूल गये हैं। लौंद के वर्षों को गणना में सम्मिलित कर लेने पर बालक का उत्तर ठीक निकला।

ज्योतिष शास्त्र के आचार्य स्टफोर्ड दस वर्ष की आयु में छत्तीस अंकों की गुणा एक मिनट में कर लेते थे। इसी प्रकार पादरी ह्वटले छ वर्ष से नौ वर्ष की आयु के भीतर बड़े बड़े गणित के प्रश्नों को हल कर लेते थे।

यह आश्चर्यकारी ज्ञान आयु के अधिक होने पर प्राय इन अद्भुत व्यक्तियों में से लुप्त हो जाता है। ये अद्भुत व्यक्ति अपनी गणना की उस शैली के बतलाने में असमर्थ रहे, जिससे वे अपने मन में इन प्रश्नों का हल कर लेते थे।

ऐसी अद्भुत मानशक्ति कितने ही बालक व मनुष्यों के भीतर विभिन्न कलाओं में भारतवर्ष में भी देखी जाती है। श्रीमद् राजचन्द्र शतावधानी थे। जो भी वाक्य चाहे कितने ही लम्बे व किसी अज्ञात भाषा में ही क्यों न हों, जब उनके सामने कहे जाते थे वे उनको उसी क्रम से दोहरा देते थे।[2] दो उदाहरण संगीतकला के भी वर्तमान काल में देखे गये हैं। मास्टर मनहर बरवे व मास्टर मदन[3] दो बालकों ने—जब कि वे पांच वर्ष के ही थे और उनके शब्दों का उच्चारण कठिनता से ही स्पष्ट हो पाया था—गाना

---

[1] ह्यूमन परसनलिटी इटस सरवाइवल ऑव बौडीलीडथ, पेरा ३०६

[2] महात्मा गांधी ने स्वयं १८९१ में श्रीमद राजचन्द्र की परीक्षा की थी, जो उन्होंने 'श्रीमद राजचन्द्र' पुस्तक की प्रस्तावना में लिखी है।

[3] लेखक ने मास्टर मदन का मधुर गान सन १९१२ में प्रयाग में और मास्टर बरवे का सुरीला गान १९२१ में मुरादाबाद में सुना था। गाना सुनने के समय इनमें से प्रत्येक की आयु छ वर्ष की थी।

प्रारम्भ किया। सगीतकला म इनकी योग्यता असाधारण थी। अनेक राग रागिनो से युक्त नाना प्रकार के वाद्यो के साथ इनका सुरीला मधुर गान श्रोताओं के हृदय को मोहित व गानकला विशारदो के गव को चूर करता था। यह गानशक्ति इन व्यक्तियो में कहा से आई? बिना पूव जन्म के स्वीकार किय इसका समाधान नही हो सकता।

कभी-कभी कोई व्यक्ति भूत-काल मे घटित घटना को—जिससे वह सर्वथा अपरिचित है—या भविष्य म होनेवाली घटना को स्पष्ट देख लेता है। भविष्य म होनेवाली एक ऐसी घटना अभी पत्रा म प्रकाशित हुई है जो उद्धृत की जाती है[1]—

स्वेडन देश के स्टाकहोम नगर म हस कजर नामी क्लक १९४० के जुलाई मास म, अपने चौथी मजिलवाले कमरे म खिडकी के पास बठा हुआ बाल्टिक सागर की शीतल वायु का सेवन कर रहा था। सामनेवाले गह की चौथी मजिल के कमरे पर उसकी दृष्टि पड़ी। उसने एक परम सुन्दरी युवती को पुस्तक पढ़ते देखा। वह उसकी ओर देखने लगा ताकि उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर ले।

अकस्मात् एक अभिनय दिखलाई पड़ा। उसने उस कमरे में एक अध वयस्क मनुष्य को प्रवेश करते देखा। उसे देखकर युवती भयभीत हुई और चिल्लाकर पुस्तक फेंक दी। एक मिनट के पश्चात एक लम्बा चाकू हाथ म चलता दिखाई पड़ा। उस मनुष्य ने उस युवती की हत्या कर डाली और वह महिला चिल्लाती हुई गिर पड़ी।

यह घटना इतनी शीघ्रता से हुई कि हन्स कजर सहायता क लिए चिल्ला भी नहीं सका। तनिक देर बाद अपने कमरे से निकला। जीने से दौड़ते हुए उतरा। सडक पार करके उस भवन मे पहुचा। गृहरक्षक को सब घटना सुनाई। पहिले तो वह गृहरक्षक विस्मित हुआ फिर उपहास करने लगा। उसने समझा कि कजर पागल हो गया है क्योंकि वह कमरा जिसमे हत्यावाली घटना बतलाई गई थी कई सप्ताह स बन्द था कोई

[1] यह घटना स्टाकहोम के 'डजन्स नहटर' पत्र से उद्धृत करके 'हिन्दुस्तान टाइम्स १६ मई, १९४१ के अक में प्रकाशित हुई है।

मनुष्य उसमें नहीं रहता था।

इस कमरे की सान्त्वना के लिए उसको चौथी मंजिल के कमरे में ले जाया गया। वह बिल्कुल खाली था। वहां से उसको कमरा स्पष्ट दिखाई देता था। गृहरक्षक ने पुलिसमैन को बुलाया और अजर वाली घटना का वर्णन किया। वार्डन ने अजर को पागल समझकर फोन द्वारा रोगी की गाड़ी मंगाई और उसको पागलखाने में भेज दिया।

एक सप्ताह पश्चात् एक दम्पती उस भवन की चौथी मंजिल के कमरे को किराये पर लेने के लिए आया। पुरुष व युवती का हुलिया व युवती के वस्त्र पागल अजर के कथित वर्णन से मिलते थे। उस दम्पति ने वह कमरा किराये पर ले लिया। तीन मास पश्चात् गृहरक्षक से अन्य किरायेदारों ने कहा कि चौथी मंजिल वाले कमरे से—जिसमें वह दम्पती रहता था—चीखने की आवाज आई है। गृहरक्षक किरायेदारों के साथ उस कमरे में गया और उनकी सहायता से कमरा खोला। युवती मृत पड़ी थी और वह पुरुष स्तम्भित दशा में खड़ा था। उसको पुलिस के सुपुर्द कर दिया गया।

उस व्यक्ति ने स्वीकार किया कि ईर्ष्यावश उसने अपनी पत्नी की हत्या कर डाली है। हत्या का विवरण बिल्कुल वही था जैसा कि अजर ने पहले देखा था।

अब डाक्टरों की एक समिति अजर को पागलखाने से छुड़ाने का प्रयत्न कर रही है ताकि उसकी मानसिक चेष्टाओं का अवीक्षण किया जाय। यदि मनुष्य में भविष्य जानने की शक्ति नहीं है तो यह कहां से आ गई?

३—स्वप्न

स्वप्न में प्रायः वे बातें स्मरण आया करती हैं जिनको हम भूल गये हों या जिनपर जागृत अवस्था में हमारा ध्यान न गया हो। मयर्स महोदय ने अपनी उपर्युक्त पुस्तक में ऐसी कितनी ही घटनाओं का वर्णन किया है। उनमें से निम्नलिखित घटनाएं उद्धृत की जाती हैं—

अमरीका देश में पेनसिलवेनिया विश्वविद्यालय के आचार्य लम्बरटन एक समस्या का हल बिना लिखे हुए मौखिक तौर पर करना चाहते थे। समाधान करने में असफल होकर उन्होंने उस प्रश्न को छोड़ दिया। एक

सप्ताह-पश्चात् उन्होंने स्वप्न में उस समस्या का हल ज्यामिति के ढंग पर दीवाल पर अंकित देखा।

श्री ब्रायन ने जो नियंता में अफसर थे स्वप्न में अपने श्वसुर का—जिनके स्वास्थ्य सम्बन्ध में उन्हें कोई चिन्ता न थी—परलोक गमन इंग्लैंड के ब्राइटन नगर में होते देखा। स्वप्न सत्य निकला। मृत्यु का समय बिल्कुल मिलता था।

मृत्यु के सम्बन्ध में हमने ऐसे कितने ही मनुष्यों का अनुभव है कि उन्होंने स्वप्न में दूर देश स्थित अपने प्रियजनों की—जिनके स्वास्थ्य या मृत्यु के सम्बन्ध में उन्हें किसी प्रकार की भी चिन्ता न थी—मृत्यु होते देखी। बाद को ज्ञात हुआ कि अपने प्रियजन की मृत्यु ठीक उसी स्थान समय व ढंग पर हुई है जैसा कि उन्होंने स्वप्न में देखा था।

ये अनुभव, जो जागृत अवस्था में विद्यमान थे, भौतिक मस्तिष्क से कैसे उत्पन्न हो गये ?

४—हिप्नाटिज्म

यह ऐसी चमत्कारिक मानसिक क्रिया है जिसको केवल भौतिक पदार्थ का माननेवाला व्यक्ति समझने में असमर्थ है। प्रारम्भ में इसके प्रयोगों का धोखे की कहानियाँ कहकर उपहास व तिरस्कार किया गया था। परन्तु अब हिप्नॉटिज्म व उसके प्रयोगों में किसीको सन्देह नहीं रहा। अब यह स्वीकृत विषय बन गया है।

सबसे प्रथम फ्रांसीसी डाक्टर मेसमर महाशय ने इस बात का पता लगाया कि मनुष्य अपने मानसिक प्रभाव को दूसरे व्यक्ति पर डाल सकता है और इसके द्वारा सिरदर्द आदि अनेक रोगों का उपचार किया जा सकता है। इसके पश्चात् डाक्टर एसडेल[1] ने कलकत्ता नगर के अस्पताल में सैकड़ों रोगियों को अपने मानसिक प्रभाव से अचेत करके उनपर आपरेशन (चीर-फाड़) किये।

हिप्नाटिज्म द्वारा बालकों को नियन्त्रित किया जा सकता है। उनकी

[1] देखिये 'दी ह्यूमन परसनलिटी एंड इट्स सरवाइवल आफ बॉडीली डेथ' पृष्ठ ५०७

बुराई व दोष दूर किये जा सकते है। एक बालक की यह कुटेव पड़ गई थी कि बिना उँगलियों के चूसे हुए उसको नींद नहीं आती थी। उसकी यह कुटेव हिप्नाटिज्म के प्रयोग द्वारा नष्ट हो गई। जब किसी व्यक्ति पर हिप्नाटिज्म के प्रयोग किये जाते हैं तो उस व्यक्ति की ज्ञानशक्ति विकसित हो जाती है। आंखों पर पट्टी बांधकर हाथ से टटोलकर वह व्यक्ति रंगों को पहचान सकता है। ऐसी दशा में उस व्यक्ति से जो कुछ कहा जाता है उसीके अनुसार वह कार्य करने लगता है।

मनुष्य में ज्ञान के कई स्तर कहे जा सकते हैं जिनमें से कुछ स्तर सुषुप्त दशा में पड़े रहते हैं। जब किसी व्यक्ति पर हिप्नाटिज्म के प्रयोग किये जाते हैं तो उसके ज्ञान के सुषुप्त स्तर प्रकाश में आ जाते हैं और ऊपरवाले जागृत स्तर सुषुप्त दशा को पहुंच जाते हैं। उस व्यक्ति के सुषुप्त ज्ञान-स्तरों के जागृत होने के कारण ही वह हिप्नॉटिज्म करनेवाले मनुष्य के प्रभाव को ग्रहण कर लेता है उसकी शिक्षा व आदेश को मानता है। इसी कारण उसकी कुवृत्तियां सदा के लिए नष्ट हो जाती हैं एवं उसके रोग दूर हो जाते हैं। ये मानसिक शक्तियां भौतिक मस्तिष्क से कैसे उत्पन्न हो सकती हैं?

५—चमकीले पदार्थ पर दृष्टि जमाना

विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी चमकते हुए पदार्थ पर टकटकी लगाकर देखने की प्रथा संसार के भिन्न भिन्न प्रदेशों में बहुत काल से चली आ रही है। इस कार्य के लिए बिल्लौर दर्पण पालिश किया हुआ लोहा जल से भरा हुआ बर्तन या किसी और चमकते हुए पदार्थ का प्रयोग किया जा सकता है। यह कहा जाता है कि कोई व्यक्ति विशेषकर बालक, यदि किसी चमकते हुए पदार्थ पर टकटकी लगाकर ध्यानपूर्वक देखे तो उसके समक्ष भूत एवं भविष्यत घटनाओं के दृश्य आने लगते हैं। इन घटनाओं की परीक्षा वैज्ञानिक ढंग से की गई है।

एक बार एक ऐसे ही चमकते पदार्थ के दर्शक ने सर जोजफ बानबी से एक ऐसी ही घटना में देखी हुई महिला का वर्णन किया जो विशेष प्रकार के वस्त्र पहिने हुए थी। वर्णन से बानबी महोदय ने उस महिला को अपनी

पत्नी समझा परन्तु वह उस प्रकार के आभूषण नहीं पहनती थी इसलिए उसको उस पर विश्वास नहीं हुआ। घर लौटने पर वह यह देखकर आश्चर्यान्वित हो गया कि श्रीमती बानबी कथित विशेष प्रकार के ही वस्त्र पहिने हुई थी। ये वस्त्र उसने इस बीच में मोल ले लिये थे। बिल्लौर में देखने के अठारह मास पश्चात भीड़ में श्रीमती बानबी को वे ही वस्त्र पहिने हुए देखा और तत्काल ही पहिचान लिया कि यह वही महिला है जिसको उसने बिल्लौर में देखा था।[1] दर्शक ने जब यह दृश्य पहले नहीं देखा था तो उसके मस्तिष्क ने कहां से उत्पन्न कर दिया।

६—विचार प्रेषण

प्राचीन काल से कहावत चली आती है कि दूरस्थ उच्च आत्माओं तक हम अपनी भावनाएं बिना किसी बाह्य सहायता के पहुंचा सकते हैं, जैसा कि प्रार्थना में। यदि यह बात सत्य है, तो यह मानना असंगत न होगा कि एक ही स्थिति वाली दूरस्थित दो आत्माएं भी विचारों का परस्पर परिवर्तन कर सकें। इन घटनाओं की सत्यता का निर्णय अनुसंधान द्वारा वर्तमान काल में किया गया है।

श्री गरनी ने लिवरपूल के न्यायाधीश श्री गठरी के बहुत से अनुसंधानों[2] को लेखबद्ध किया है। गठरी महोदय इन बातों में पहले विश्वास नहीं करते थे। इन अनुसंधानों में रंग रेखागणित की शक्लें तारा व अन्य पदार्थों की भावनाओं को दूर प्रेषित किया गया था। निश्चित समय पर श्री गठरी ने एक स्थान पर स्थिर होकर एवं अपने मन को एकाग्र करके पूर्ण संकल्प शक्ति के द्वारा इन वस्तुओं की भावनाओं को दूसरे स्थान पर

[1] उपरोक्त पुस्तक में निम्नलिखित घटना भी दी हुई है—मिस ए० गुडरिच फ्रियर का एक बार बिल्लौर पर टकटकी लगाकर देखने से बाड़ पर लगी हुई बहुत लम्बी मीठी मटर का दृश्य दिखलाई दिया। कुछ समय के पश्चात पड़ोसी के बाग में जाने पर, जिसमें वह पहले कभी नहीं गई थी बड़ी लम्बी मटरवाली बाड़ सामने दिखलाई पड़ी।

[2] वही, पैरा ६३० व ६६८

स्थित मनुष्य तक प्रेषण करना प्रारम्भ किया। इस दूसरे व्यक्ति ने अपनी बुद्धि को प्रयोग में लाये हुए यन्त्र की भांति चित्र खींचना प्रारम्भ किया। ये चित्र श्री गदरी की प्रेषित वस्तुओं की भावनाओं से मिलते जुलते थे। एक मास में लगभग एक सौ पचास अनुसंधान गदरी महोदय ने किये थे। उन्होंने उन चित्रों को सम्हालकर रखा है। इनमें से कुछ चित्र मेयर्स महोदय की उपयुक्त पुस्तक में मुद्रित हैं। इन चित्रों के देखने से ज्ञात होता है कि ये अटकल या अकस्मात् नहीं बने हैं।

इसके पश्चात सर आलीवर लाज ने श्री गदरी के साथ मिलकर पुन स्वतन्त्र अनुसन्धान किये और उपरोक्त घटनाओं को सत्य पाया।

उपरोक्त भावनाओं के प्रेषित करने के अतिरिक्त कुछ ऐसी घटनाएं हैं जिनमें मनुष्य का भौतिक शरीर उसी स्थान पर रहते हुए भी उसका व्यक्तित्व दूसरे स्थान तक चला जाता है, परन्तु उस व्यक्ति को इसका पता भी नहीं लगता है। मिश्र देश के काहिरा नगर के होटल में दो अंग्रेज महिलाएं[1] एक रात्रि को सो रही थी। जब वे जागृत अवस्था में थीं उन्होंने एक अंग्रेज मित्र को जो उस समय इंगलैण्ड में विद्यमान था देखा। पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि उनका मित्र उस दिन बड़ा ही चिंतित था और अग्नि के पास बैठा हुआ कुछ परामर्श करने के लिए उनमें से एक महिला से मिलने के लिए बड़ा उत्सुक था।

पादरी गाडफ्रे ने विचार प्रेषण की बातों से प्रभावित होकर स्वयं अनुसंधान करने का संकल्प किया। एक रात्रि को शय्या पर स्थित होकर मन को एकाग्र करके उन्होंने एक दूर स्थित महिला मित्र के सम्मिलन पर अपने ध्यान का पूर्ण संकल्प के साथ लगाया। कुछ मिनट पर ध्यान लगाने पर उनको नींद आ गई। प्रात काल जागने पर उन्हें प्रतीत हुआ कि वे अपनी महिला मित्र से मिल लिये हैं। इस अनुसंधान का तनिक-सा भी संकेत उन्होंने अपनी महिला मित्र से पहले नहीं किया था। दूसरे दिन पता लगने पर वह यह सुनकर स्तम्भित रह गए कि उनकी महिला मित्र ने उसी रात्रि को उन्हें आने पर खड़ा हुआ प्रत्यक्ष देखा था मोमबत्ती दिखलाने

---

[1] वही परा ६६५

पर वह एकदम अदृश्य हो गये। उन्होंने यह अनुसंधान दुबारा भी किया और उसमें भी सफल हुए। इससे स्पष्ट है कि न केवल भावनाएँ ही वरन् मनुष्य का व्यक्तित्व भी उसके भौतिक शरीर के वहीं रहते हुए दूसरे स्थान तक प्रेषित किया जा सकता है।

इन भिन्न भिन्न घटनाओं को बड़ी कुशलता के साथ श्री मयर्स व अन्य विद्वानों ने अनुसंधान करके पुस्तकों में संगृहीत किया है जिनकी सत्यता में किसीको भी संदेह नहीं होना चाहिए। इन घटनाओं का संतोषप्रद उत्तर वैज्ञानिक अपने भौतिक विज्ञान के आधार पर देने में असमर्थ हैं। इनका उत्तर अध्यात्म-तत्त्व के आधार पर ही दिया जा सकता है।

७—क्या शारीरिक मृत्यु होने पर मनुष्य का व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है?

इस विषय में वैज्ञानिक श्री मयर्स, सर विलियम क्रुक्स, सर आर्थर कानन डायल एवं प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर आलीवर लॉज जो रायल सोसाइटी के अध्यक्ष भी रहे हैं—ने बहुत-से अनुसंधान किये हैं। इन अनुसंधानों से आत्मा का शारीरिक मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रहना प्रमाणित होता है। ये अनुसंधान दो प्रकार के हैं—

(क) जिनमें मनुष्य की आत्मा मृत्यु के पश्चात् फिर मनुष्य जन्म धारण करता है।

(ख) जिनमें मनुष्य की आत्मा मृत्यु के पश्चात् प्रेत योनि में जन्म लेता है।

(क) मनुष्य-योनि में जन्म—पुनर्जन्म के बहुत-से उदाहरण पाश्चात्य विद्वानों ने संगृहीत किये हैं। भारतवर्ष में मृत्यु के पश्चात् पुनः मनुष्य योनि में जन्म लेने की कितनी ही घटनाएँ होती रहती हैं। अभी सन् १९२६ की बात है कि युक्तप्रान्त के बरेली नगर में श्री केशवनन्दन वकील के एक पुत्र उत्पन्न हुआ।[1] जब वह बालक पाँच वर्ष का हुआ और बोलना सीख गया तो वह अपने पूर्व जन्म की बात कहने लगा कि पूर्व जन्म में मैं बनारस

[1] इलाहाबाद के 'लीडर' में यह समाचार छपा था और लेखक ने स्वयं बरेली जाकर इसकी सत्यता का निश्चय किया था।

निवासी बबुआ पाड का पुत्र था। उस बालक के पिता श्री केकयनन्दन कई मित्रों के साथ उस बालक को बनारस ले गये और बालक के बतलाये हुए स्थान पर पहुचे। उस समय बनारस के जिलाधीश श्री बी० एन० मेहता भी उपस्थित थे। बालक बबुआ महाराज तथा उस मुहल्ले के एकत्रित सज्जनों को उनके नाम ले-लेकर पुकारने लगा और उनसे मिलने की उत्सुकता प्रकट करने लगा। अपने पूर्व-जन्म के गृह तथा बहुत-सी वस्तुओं को पहिचान लिया और अनेक प्रश्न पूछने लगा कि अमुक अमुक वस्तुए कहा कहा हैं और कैसी हैं। उस बालक का बतलाया हुआ पूर्व जन्म का समस्त वृत्तान्त बिल्कुल सत्य निकला। यह बालक अब भी जीवित है, परन्तु पूर्व जन्म की उसकी स्मृति अब नष्ट हो गई है।

(ख) प्रेत योनि में जन्म—मनुष्य की आत्मा का मृत्यु के पश्चात् प्रेत योनि मे जाकर अपने सम्बन्धी एवं मित्रों को दिखलाई देने व वार्तालाप करने के सम्बन्ध म श्री मेयर्स व श्री गरनी ने बहुत-से अनुसधान किये हैं जो उपरोक्त पुस्तक म अकित हैं। ऐसी बहुत-सी घटनाए भारतवर्ष मे भी होती रहती हैं और उनमे से अनेक समाचार-पत्रों मे भी मुद्रित हुई हैं, परन्तु उनकी सत्यता वैज्ञानिक अनुसधान की कसौटी पर नहीं जाची गई। इसलिए उनका विवरण नहीं दिया जाता है। कुछ घटनाए उपरोक्त पुस्तक से उद्धत की जाती हैं—

१ प्रेत-योनि में उत्पन्न होकर दिखलाई देना—कप्टेन कोल्ट[1] का एक भाई उस सेना म था जो सेवस्टोपल स्थान पर युद्ध कर रही थी। उनमे प्राय पत्र-व्यवहार हुआ करता था। एक बार जब उसका भाई उदास था तो कप्टेन कोल्ट ने उसको लिखा कि तुम प्रसन्न रहो, उदासी को पास मत आने दो यदि कोई विशेष बात हो तो स्काटलैंड म आकर मुझसे मिलो। कुछ दिनों के पश्चात् एक रात्रि को कप्टेन सहसा जाग उठा और अपने भाई की छाया को देखा। उसके चारों ओर पीला कोहरा-सा था। वह पलग के पास घुटने टेक रहा था। वह छाया कप्टेन के सिर के चारों ओर घूमी और उसकी ओर प्रेम भरी चिंतित दृष्टि स देखती रही। कप्टेन ने

---

[1] वही, धारा ७२५ (ग)

उसकी दाहिनी कनपटी पर एक घाव देखा जिससे रक्तधारा वह रही थी। एक पक्ष बाद कप्टेन को सूचना मिली कि उसके भाई की मत्यु हो गई है उसका शव घुटने टेकती हुई अवस्था मे पाया गया था उसकी कनपटी पर गोली का घाव था और उसकी जब म कप्टन का उपरोक्त पत्र भी था।

२ प्रेत-योनि में उत्पन्न होने के कितने ही समय पश्चात दिखलाई देना —कप्टेन टाउस[1] की मत्यु के छ सप्ताह पश्चात एक रात्रि को उनकी पुत्री न अपनी महिला मित्र के साथ शयनगह म प्रवेश किया जिसम गस का प्रकाश हो रहा था। यह दखकर वह स्तम्भित रह गई कि मृत पिता का प्रतिबिम्ब तोशखाने की चमकती हुई दीवार पर पड रहा है। उस कमरे म उनका कोई चित्र न था इसलिए यह प्रतिबिम्ब किसी चित्र का नही हो सकता था। चार सेवका को बुलाया गया उन्होने भी प्रतिबिम्ब को देख कर अपन मत स्वामी को पहिचान लिया। अन्त म श्रीमती टाउन्स को भी बुलाया गया। उन्हाने भी प्रतिबिम्ब को स्पष्ट तौर पर देखा और उसको स्पश करन के लिए आगे बढीं तो वह प्रतिबिम्ब धीरे धीरे लुप्त हो गया।

३ प्रेत बोलते भी हैं—न्यायगृह की अधिष्ठात्री बहिन बरथा[2] के सम्बन्ध मे एक घटना अकित की गई है। उन्होंने यह वाक्य सुना कि मैं आपके पास हू। स्वर स उन्होने पहिचाना कि ये शब्द उनकी मित्र व शिष्या मिस लूसी के हैं। किसीको न देखकर बहिन बरथा न पूछा कि आप कौन हैं ? उत्तर मिला कि आपको अभी नात नहीं होना चाहिए। दूसरे दिन उन्हे ज्ञात हुआ कि मिस लूसी की मत्यु उसकी छाया आने के बारह घटे पूव हो चुकी थी।

४ प्रतों का गहवास—एक श्रीमती एम[3] थी। उनको यह नात न था कि उसके नवीन गह म प्रतो का वास है। एक रात्रि को सोते हुए उसने सिसकने की ध्वनि सुनी। सिसकने की ध्वनि लगातार होते रहने पर उसने खिडकी खोली। उसको बाहर घास पर एक परम सुन्दरी युवती दिखलाई

---

[1] वही परा ७४१

[2] वही परा ७४३ (अ)

[3] वही, परा ७४५ (आ)

६ मृत आत्मा से बातचीत करना— प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर ओली वर लाज का पुत्र रेमंड गत यूरोपीय महासमर के सितम्बर सन् १६१५ में फ्लैंडर्स प्रान्त में मारा गया था। मृत्यु के समय रेमंड की आयु छब्बीस वर्ष की थी। सर ओलीवर लाज ने मृत आत्माओं से विशेषकर, अपने पुत्र रेमंड की मृत आत्मा से बातचीत करने के बहुत से अनुसंधान किये जिनको उन्होंने रेमंड मेम्वायर, विज्ञान व मानव विश्वास एवं 'मैं क्यों आत्मा के अमरत्व में विश्वास करता हूं' नामक तीन पुस्तकों में प्रकाशित किया है। इन अनुसंधानों से उनको विश्वास हो गया था कि शारीरिक मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा जीवित रहता है।

मेयर्स सर ऑलीवर लाज कानन डायल के अतिरिक्त रस्किन एलफ्रेड रसल वालेस सर विलियम क्रूक्स सर एडवर्ड मार्शल हाल आदि अन्य प्रसिद्ध विद्वानों ने भी इन विषयों पर अनेक अनुसंधान किये हैं। मनोविज्ञान समिति के उपरोक्त विभिन्न अनुसंधानों से भी स्पष्ट है कि मनुष्य में भौतिक शरीर के अतिरिक्त एक अन्य सूक्ष्म पदार्थ है जिसको आत्मा कहते हैं। यह आत्मा ज्ञान की अद्भुत शक्तियों से भरपूर है और शारीरिक मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रहता है।

५

आत्मा का वास्तविक स्वरूप

यह निर्णय हो जाने पर कि मनुष्य पशु पक्षी आदि समस्त प्राणी दो पदार्थ पुद्गल व आत्मा के बने हुए हैं इन प्राणियों का दृश्य बाह्य भाग शरीर हाड़ मांस आदि भौतिक पदार्थों का बना है और अन्तरंग भाग— जिसमें पदार्थों के देखने जानने हित अहित विचारने पूर्व काल की बातों के स्मरण रखने संकल्प शक्ति व अनेक प्रकार की रागद्वेषादि भावनाएं हैं—आत्मा (जीव) है यह प्रश्न स्वाभाविक ही उठता है कि आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है, जो वर्तमान अवस्था में देखने जानने स्मरण रखने रूप ज्ञान गुण संकल्प शक्ति व अनेक प्रकार की काम क्रोध आदि भावनाओं के रूप में प्रतिभासित होता है। जीव के वास्तविक स्वरूप का निर्णय हो जाने पर आत्मा सम्बन्धी अन्य गूढ़ प्रश्नों का समाधान सरलता पूर्वक हो सकेगा।

१—ज्ञान-स्वरूप

यह निर्धारित किया जा चुका है कि मनुष्य में पदार्थ को देखने जानने हित अहित पहचानने विचार करने अतीत की बातें स्मरण रखने का ज्ञान-गुण है।

पदार्थ का ज्ञान मनुष्य को ध्यानपूर्वक देखने विचारने गुरु या अन्य ज्ञानी पुरुष के उपदेश या पुस्तक के अध्ययन से प्राप्त होता है। यह जानना आवश्यक है कि मनुष्य में यह ज्ञान कहां से आता है? क्या यह ज्ञान पदार्थ या पुस्तक में से निकलकर मनुष्य में प्रवेश कर जाता है? क्या इस ज्ञान को गुरुजी अपने ज्ञान में से पृथक करके शिष्य को प्रदान कर देते हैं? वस्तु या पुस्तक स्वयं ज्ञानशून्य है और भौतिक पदार्थ की बनी हुई है इसलिए ज्ञान इसके भीतर से निकलकर नहीं आ सकता। गुरुजी यदि अपने ज्ञान में से कुछ अंश पृथक करके शिष्य को दे देते हैं तो गुरुजी के ज्ञान में कुछ

न्यूनता भी आनी चाहिए। अनुभव बतलाता है कि ज्यों ज्यों आचार्य महोदय शिष्य को ज्ञान प्रदान करते हैं त्यों त्यों आचार्य व शिष्य दोनों के ज्ञान में वृद्धि होती है। इसलिए यह मानना पड़ता है कि यह ज्ञान गुरु के ज्ञान में से पृथक होकर शिष्य में नहीं आता है। गुरु पुस्तक या अन्य बाह्य पदार्थ में से ज्ञान के न निकलने एवं मनुष्य में न प्रवेश करने से इस परिणाम पर पहुँचने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि यह ज्ञान मनुष्य के भीतर स्वयं अव्यक्त दशा में विद्यमान है और वस्तु के ध्यानपूर्वक मनन विचारने गुरु-उपदेश या पुस्तक के अध्ययन से मनुष्य का यह अव्यक्त ज्ञान विकसित होकर व्यक्त दशा को प्राप्त हो जाता है।

मानव-समाज को ध्यानपूर्वक देखने से ज्ञात होता है कि यह ज्ञान-गुण प्रत्येक मनुष्य में एक-सी मात्रा में नहीं पाया जाता। किसीकी बुद्धि तीव्र होती है और किसीकी मन्द। किसीकी स्मरणशक्ति प्रबल है और किसीकी निर्बल। कोई विद्वान है और कोई मूर्ख गँवार। यदि एक मनुष्य गणित का पंडित है तो दूसरा विज्ञान का ज्ञाता तीसरा दर्शनशास्त्र का आचार्य चतुर्थ अर्थशास्त्र इतिहास राजनीति आदि का विद्वान है। कोई व्यक्ति एक भाषा जानता है और कोई दूसरी भाषा। इस प्रकार ज्ञान-गुण मानव-समाज के भिन्न भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न दशा अवस्था व मात्रा में पाया जाता है। कोई भी ऐसे दो व्यक्ति दृष्टिगोचर नहीं होते कि जिनमें ज्ञान-गुण एक-सी अवस्था व मात्रा में पाया जाय। ज्ञान की मात्रा प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न भिन्न पाई जाती है।

यह देखा जाता है कि एक व्यक्ति जो पहिले किसी विषय से सर्वथा अनभिज्ञ है प्रयत्न करने पर थोड़े समय में ही उस विषय का पारगामी हो जाता है। एक भारतवासी जो अंग्रेजी भाषा से सर्वथा अपरिचित होता है कुछ समय तक प्रयत्न करने पर उस भाषा (अंग्रेजी) का विद्वान बन जाता है और अंग्रेजी भाषा में अपने विचारों को अंग्रेजों की भाँति प्रगट करने लगता है। यदि कोई मनुष्य इतिहास से अनभिज्ञ है और वह इतिहासज्ञ बनना चाहता है तो प्रयत्न करने पर धीरे धीरे इतिहास के ग्रंथों का अध्ययन करता हुआ इतिहासवेत्ता बन जाता है। इसी प्रकार एक व्यक्ति, जो किसी विषय से सर्वथा अनभिज्ञ है प्रयत्न करने पर उस

विषय का पण्डित हो जाता है।

इस बात से कि कोई भी विषय—जो किसी मनुष्य के ज्ञानगोचर है—प्रयत्न किये जाने पर दूसरे मनुष्य के ज्ञानगम्य हो सकता है, प्रतीत होता है कि समस्त वस्तुएं व समस्त विषय—जो किसी भी व्यक्ति के ज्ञानगोचर हैं—ठीक प्रकार प्रयत्न किये जाने पर दूसरे व्यक्ति के भी ज्ञानगम्य हो सकते हैं। इस विवेचन से इस सिद्धान्त पर पहुचा जाता है कि इन दोनों व्यक्तियों में ज्ञानशक्ति बराबर है परन्तु इस ज्ञानशक्ति का विकास इन दोनों में भिन्न भिन्न है। जिस व्यक्ति में ज्ञान की मात्रा न्यून है, वह व्यक्ति अपनी ज्ञानशक्ति को उचित साधन द्वारा विकसित करके दूसरे व्यक्ति की ज्ञानशक्ति के विकास के बराबर कर सकता है। जो सिद्धान्त इन दो व्यक्तियों के लिए स्थिर होता है, वही सिद्धान्त उपयुक्त युक्ति द्वारा मानव समाज के समस्त व्यक्तियों के लिए स्थिर होगा। इस विवरण से यह सिद्धान्त निश्चित होता है कि मानव-समाज के प्रत्येक व्यक्ति में ज्ञानशक्ति बराबर है परन्तु इस ज्ञानशक्ति का विकास भिन्न भिन्न व्यक्तियों में भिन्न भिन्न है। जिन व्यक्तियों में ज्ञानशक्ति का विकास कम है प्रयत्न करने पर उनकी ज्ञानशक्ति के विकास में वृद्धि हो सकती है।

मानव समाज के समस्त व्यक्तियों में ज्ञानशक्ति एक सी होने से स्पष्ट है कि एक मनुष्य यदि उसके मार्ग में व्याधि रोग मृत्यु आदि आपत्तियां उपस्थित न हों और उचित साधन उसको प्राप्त होते रहें, तो वह मनुष्य उन समस्त विषय एवं पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है जो किसी दूसरे व्यक्ति को प्राप्त है पूर्वकाल में प्राप्त था या भविष्य में प्राप्त होगा।

ऐसी कोई वस्तु हो नहीं सकती जो किसी भी व्यक्ति के ज्ञानगोचर न हो। यदि कहा जावे कि ऐसे अज्ञात पदार्थ विद्यमान हैं जो किसी भी व्यक्ति के ज्ञानगोचर न थे न हैं और न होंगे तो उस कहनेवाले व्यक्ति से (प्रत्युत्तर में) पूछा जा सकता है कि ऐसे अज्ञात पदार्थों की, जो किसी भी व्यक्ति के ज्ञानगम्य नहीं हैं सत्ता का प्रमाण ही क्या है? यदि सत्ता का प्रमाण है तो ये पदार्थ अज्ञेय की श्रेणी से निकलकर ज्ञेय की श्रेणी में आ जाते हैं और उनका ज्ञान मनुष्य को हो सकता है। यदि इनकी सत्ता का कोई प्रमाण नहीं है तो यही मानना पड़ता है कि ये पदार्थ कल्पित हैं

इनका कोई अस्तित्व वास्तव में नहीं है।

इन बातों से—कि मनुष्य उचित प्रयत्न करने पर समस्त पदार्थों व विषयों का ज्ञाता हो सकता है और यह ज्ञानशक्ति मनुष्य में अव्यक्त दशा में पहले ही से विद्यमान है—स्पष्ट है कि मनुष्य में स्वभाव से ही सम्पूर्ण पदार्थों के जानने की शक्ति अव्यक्त दशा में विद्यमान है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य में सर्वज्ञता का गुण शक्ति-रूप से अव्यक्त दशा में विद्यमान रहता है। इस अव्यक्त ज्ञान-शक्ति के न्यून या अधिक विकसित होने के कारण ही भिन्न भिन्न मनुष्यों के ज्ञान में इतना अधिक अन्तर पाया जाता है। इस अव्यक्त ज्ञान शक्ति के पूर्ण विकसित होने पर मनुष्य सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञाता अर्थात् सर्वज्ञ हो सकता है।

हस्ति आदि बड़-बड़े पशुओं में भी वस्तु देखने विचारने हित अहित पहचानने व स्मरण रखने की शक्ति पाई जाती है। परन्तु यह ज्ञान शक्ति मनुष्य की अपेक्षा पशुओं में न्यून मात्रा में है जिससे ज्ञात होता है कि पाशविक जीवन में ज्ञान का विकास बहुत कम है। पक्षी जलचर कीट पतंग आदि छोटे छोटे जन्तुओं में तो इस ज्ञानशक्ति का विकास और भी कम है। जो अव्यक्त ज्ञानशक्ति युक्ति से मनुष्य में सिद्ध होती है वही ज्ञानशक्ति अव्यक्त दशा में पशु-पक्षी आदि जीवों में भी माननी होगी। इसलिए प्रत्येक जीव में सर्वज्ञता का गुण अव्यक्त दशा में स्वभाव से ही मानना होगा।

जिस प्रकार सांसारिक मनुष्य में विविध विषयों का ज्ञान एक ही साथ एक ही समय में विद्यमान रहता है उसी प्रकार सर्वज्ञ में भी समस्त पदार्थ व विषयों का ज्ञान एक साथ एक ही समय विद्यमान रहता हुआ मानना होगा।

अन्य प्रकार विचारने से भी उपर्युक्त परिणाम पर पहुंचा जाता है। सांसारिक दशा में आत्मा बाह्य पदार्थों का ज्ञान नेत्र आदि इन्द्रिय एवं मस्तिष्क की सहायता से प्राप्त करता है। जब यह आत्मा उचित प्रयत्न करने पर पूर्ण विकसित व शुद्ध हो जायगा और उसको बाह्य इन्द्रिय व मस्तिष्क की आवश्यकता नहीं रहेगी उस समय यह आत्मा बिना बाह्य इन्द्रिय व मन की सहायता के अपने दिव्य ज्ञान से संसार के समस्त पदार्थों को जान सकेगा। सांसारिक दशा में इन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान सीमित है।

नेत्र आदि इन्द्रियो की पहुच कुछ क्षेत्र व वर्तमान काल तक परिमित है अधिक दूरी एव अविद्यमान वस्तु का ज्ञान इनकी शक्ति से बाहर है। मन अनुमान द्वारा भूत व भविष्यत की बातों का ज्ञान प्राप्त करता है, परन्तु यह ज्ञान पूर्णतया निर्मल स्वच्छ सन्देह रहित नही होता, भ्रम होने की आशका रहता है। जब ज्ञान दिव्य होकर अतीन्द्रिय हो जाता है, इन्द्रिय सहायता की आवश्यकता नही रहती एव उनके प्रयोग को छोड देता है उस समय ज्ञान असीमित व अनन्त हो जाता है। उस ज्ञान को सीमित करने वाली कोई वस्तु या रुकावट नही रहती। उस दिव्य ज्ञाता की दृष्टि में अतीत अनागत एव दूरवर्ती पदार्थ उसी प्रकार प्रतिभासित होते हैं, जैसे कि वर्तमान काल सम्बन्धी समीपवर्ती वस्तु। इस प्रकार वह अपने दिव्य ज्ञान से भूत भविष्यत, वर्तमान काल सम्बन्धी त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को जान सकेगा। इस दृष्टि से भी आत्मा में सर्वज्ञता का गुण शक्ति रूप से सिद्ध होता है।

आत्मा के ज्ञान-स्वभाव की भिन्न भिन्न अवस्थाओ को ध्यान में रखते हुए इस ज्ञान-स्वभाव को दो अवस्थाओ म विभक्त किया जा सकता है -

१ दर्शन—मनुष्य जब किसी पदार्थ को नेत्र के द्वारा देखता या उसका अनुभव अन्य इन्द्रियो के द्वारा करता है तो पहिले उस मनुष्य को उस पदार्थ का आभास मात्र ज्ञान होता है। इस आभास मात्र ज्ञान को दर्शन कह सकते हैं।

२ ज्ञान—विचारना अनुभव करना, स्मरण आदि ज्ञान की समस्त अवस्थाए जो पदार्थ के प्रथम दर्शन (आभास मात्र ज्ञान) के पश्चात होती हैं इन सबको हम ज्ञान शब्द से ही पुकार सकते हैं। इस प्रकार आत्मा के ज्ञान-स्वभाव को दर्शन व ज्ञान दो स्वभावो में विभक्त किया जा सकता है।

२—आनन्द-स्वरूप

मनुष्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए निश्चय किया जा चुका है कि मनुष्य में काम क्रोध आदि अनेक प्रकार की वासनाए व भावनाए पाई जाती हैं। यह ज्ञात करना आवश्यक है कि क्या ये समस्त भावनाए आत्मा के

स्वभाव रूप है ? यदि ये भावनाए आत्मा के स्वभाव रूप नही हैं तो क्या ये आत्मा के किसी विशेष स्वरूप या स्वभाव के विकृत रूप हैं ? यदि ये भावनाए आत्मा के किसी विशेष स्वभाव के विकार या विभाव हैं तो आत्मा का वह विशेष स्वभाव क्या है जो विकृत होकर काम क्रोध आदि अनेक प्रकार के विभावो म प्रदर्शित हो रहा है ?

मनुष्य म विद्यमान काम क्रोध आदि भावनाओं पर विचार करने से ज्ञात होता है कि किसी भी व्यक्ति मे ये समस्त भावनाए एक ही साथ एक ही समय म नही पाई जाती हैं। इन भावनाओ म से एक या अधिक भावना प्रति समय विद्यमान रहती हैं। मनुष्य जब क्रोधित होता है तो क्षमा दया आदि शुभ भावनाए उस समय दिखलाई नही देतीं। जब कोई व्यक्ति अपने बल धन ऐश्वय आदि से गर्वान्वित होता है उस समय उसमें नम्रता के भाव नहीं पाये जाते। मनुष्य जब शोक से व्याकुल या भय से कम्पित होता है उस समय उसमें प्रसन्नता के भाव विद्यमान नही रहते। जब किसी व्यक्ति क हृदय म किसी रोगी दुखी अबला की करुणाजनक अवस्था देखकर दया के भावो का सचार होता है उस समय उसके हृदय में से निदयता कठोरता के भाव लुप्त हो जाते हैं। जब किसी मनुष्य का हृदय किसी सुखद समाचार के सुनने पर हर्ष से प्रफुल्लित हो उठता है उस समय उसके हृदय से दुख शोक भय आदि भावनाएँ कूच कर जाती हैं। यही दशा अन्य भावनाओ क सम्बन्ध में भी है। इस प्रकार काम क्रोध आदि समस्त वासनाए व भावनाए एक साथ, एक ही समय में किसी भी व्यक्ति में नही देखी जाती हैं। यह अवश्य है कि मनुष्य में कोई न कोई एक या अधिक भावनाए प्रत्येक समय विद्यमान रहती हैं।

इन भावनाओ की परिणति म सतत परिवतन होता रहता है। कोई भी भावना स्थिर नही रहती है। यदि कोई मनुष्य एक समय क्रोधित होता है, तो कुछ देर पश्चात उसका क्रोध शान्त हो जाता है। उसके हृदय मे पश्चात्ताप, आत्मग्लानि आदि के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। इन परिवतन शील भावनाओं को आत्मा का स्वरूप या स्वभाव नही कहा जा सकता। स्वभाव वस्तु का वह गुण है, जो उस वस्तु में सदव विद्यमान रहे किसी न किसी अश म अवश्य पाया जावे उस (वस्तु) स किसी अवस्था म भी

नेत्र आदि इन्द्रियों की पहुंच कुछ क्षत्र व वर्तमान काल तक परिमित है, अधिक दूरी एवं अविद्यमान वस्तु का ज्ञान इनकी शक्ति से बाहर है। मन अनुमान द्वारा भूत व भविष्यत की बातों का ज्ञान प्राप्त करता है, परन्तु यह ज्ञान पूर्णतया निर्मल स्वच्छ सन्देह रहित नहीं होता भ्रम होने की आशंका रहती है। जब ज्ञान दिव्य होकर अतीन्द्रिय हो जाता है इन्द्रिय सहायता की आवश्यकता नहीं रहती एवं उनके प्रयोग को छोड़ देता है उस समय ज्ञान असीमित व अनन्त हो जाता है। उस ज्ञान को सीमित करने वाली कोई वस्तु या रुकावट नहीं रहती। उस दिव्य ज्ञाता की दृष्टि में अतीत अनागत एवं दूरवर्ती पदार्थ उसी प्रकार प्रतिभासित होते हैं जैसे कि वर्तमान काल सम्बन्धी समीपवर्ती वस्तु। इस प्रकार वह अपने दिव्य ज्ञान से भूत भविष्यत वर्तमान काल सम्बन्धी त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को जान सकेगा। इस दृष्टि से भी आत्मा में सर्वज्ञता का गुण शक्ति रूप से सिद्ध होता है।

आत्मा के ज्ञान-स्वभाव की भिन्न भिन्न अवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए, इस ज्ञान-स्वभाव को दो अवस्थाओं में विभक्त किया जा सकता है —

१ दर्शन—मनुष्य जब किसी पदार्थ को नेत्र के द्वारा देखता या उसका अनुभव अन्य इन्द्रियों के द्वारा करता है तो पहिले उस मनुष्य को उस पदार्थ का आभास मात्र ज्ञान होता है। इस आभास मात्र ज्ञान को दर्शन कह सकते हैं।

२ ज्ञान—विचारना अनुभव करना स्मरण आदि ज्ञान की समस्त अवस्थाएं जो पदार्थ के प्रथम दर्शन (आभास मात्र ज्ञान) के पश्चात होती हैं इन सबको हम ज्ञान शब्द से ही पुकार सकते हैं। इस प्रकार आत्मा के ज्ञान स्वभाव को दर्शन व ज्ञान दो स्वभावों में विभक्त किया जा सकता है।

२—आनन्द-स्वरूप

मनुष्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए निश्चय किया जा चुका है कि मनुष्य में काम क्रोध आदि अनेक प्रकार की वासनाएं व भावनाएं पाई जाती हैं। यह ज्ञात करना आवश्यक है कि क्या ये समस्त भावनाएं आत्मा के

स्वभाव-रूप हैं ? यदि ये भावनाएं आत्मा के स्वभाव रूप नहीं हैं तो क्या ये आत्मा के किसी विशेष स्वरूप या स्वभाव के विकृत रूप हैं ? यदि ये भावनाएं आत्मा के किसी विशेष स्वभाव के विकार या विभाव हैं तो आत्मा का वह विशेष स्वभाव क्या है जो विकृत होकर काम क्रोध आदि अनेक प्रकार के विभावों में प्रदर्शित हो रहा है ?

मनुष्य में विद्यमान काम क्रोध आदि भावनाओं पर विचार करने में ज्ञात होता है कि किसी भी व्यक्ति में ये समस्त भावनाएं एक ही साथ एक ही समय में नहीं पाई जाती हैं। इन भावनाओं में से एक या अधिक भावना प्रति समय विद्यमान रहती हैं। मनुष्य जब क्रोधित होता है तो क्षमा दया आदि शुभ भावनाएं उस समय दिखलाई नहीं देतीं। जब कोई व्यक्ति अपने बल धन ऐश्वर्य आदि से गर्वान्वित होता है उस समय उसमें नम्रता के भाव नहीं पाये जाते। मनुष्य जब शोक से व्याकुल या भय से कम्पित होता है, उस समय उसमें प्रसन्नता के भाव विद्यमान नहीं रहते। जब किसी व्यक्ति के हृदय में किसी रोगी, दुखी अथवा की करुणाजनक अवस्था देखकर दया के भावों का संचार होता है उस समय उसके हृदय में से निर्दयता, कठोरता के भाव लुप्त हो जाते हैं। जब किसी मनुष्य का हृदय किसी सुखद समाचार के सुनने पर हर्ष से प्रफुल्लित हो उठता है उस समय उसके हृदय से दुख, शोक भय आदि भावनाएं कूच कर जाती हैं। यही दशा अन्य भावनाओं के सम्बन्ध में भी है। इस प्रकार काम क्रोध आदि समस्त वासनाएं व भावनाएं एक साथ एक ही समय में किसी भी व्यक्ति में नहीं देखी जाती हैं। यह अवश्य है कि मनुष्य में कोई न कोई एक या अधिक भावनाएं प्रत्येक समय विद्यमान रहती हैं।

इन भावनाओं की परिणति में सतत परिवर्तन होता रहता है। कोई भी भावना स्थिर नहीं रहती है। यदि कोई मनुष्य एक समय क्रोधित होता है तो कुछ देर पश्चात उसका क्रोध शान्त हो जाता है। उसके हृदय में पश्चात्ताप आत्मग्लानि आदि के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। इन परिवर्तनशील भावनाओं को आत्मा का स्वरूप या स्वभाव नहीं कहा जा सकता। स्वभाव वस्तु का वह गुण है जो उस वस्तु में सदैव विद्यमान रहे किसी-न किसी अंश में अवश्य पाया जावे उस (वस्तु) से किसी अवस्था में भी

पथक न हो। इसलिए इन परिवर्तनशील भावनाओं को आत्मा का विभाव (आत्मा के स्वरूप का विकृत रूप) मानना होगा। इस दशा में यह प्रश्न स्वाभाविक ही उठता है कि आत्मा का वह क्या स्वरूप है जो काम क्रोध आदि अनेक प्रकार के विभावों द्वारा प्रदर्शित हो रहा है?

इन काम क्रोध आदि भावनाओं के अन्तर्गत दुख या सुख की भावना पाई जाती है। इसे समझने के लिए एक उदाहरण देना उचित होगा। एक व्यक्ति के पास एक सुन्दर चित्र है जो उसको अत्यन्त प्रिय है। यदि उस चित्र पर कोई दूसरा व्यक्ति मुग्ध होकर उसकी प्राप्ति के लिए उद्यत हो तो कठिन समस्या उपस्थित हो जाती है। प्रथम व्यक्ति सशंक रहकर उसकी रक्षा करता है। यदि दूसरा व्यक्ति उसे बलपूर्वक अपने अधिकार में करने का प्रयत्न करे तो प्रथम व्यक्ति—यदि वह सबल है—क्रोध में भर कर दूसरे व्यक्ति को मारने के लिए तत्पर हो जाता है। परन्तु यदि वह निर्बल है तो दूसरे व्यक्ति से डरकर कांपने लगता है, उसकी खुशामद करता है जिससे वह प्रसन्न होकर चित्र को न छीने। जिस चित्र पर प्रथम व्यक्ति मुग्ध है यदि वह दूसरे व्यक्ति के अधिकार में है तो उसके प्राप्त करने के लिए वह व्यक्ति अनेक प्रकार के प्रपंच रचता है, चुराने, बलपूर्वक छीनने आदि के अनेक उपाय प्रयोग में लाने के लिए उद्यत होता है। सशंकित होकर रक्षा आदि उपरोक्त समस्त वृत्तियों के अन्तर्गत व्याकुलता के भाव विद्यमान हैं। यह व्याकुलता प्रिय चित्र के वियोग की आशंका या प्राप्ति की उत्कट इच्छा से उत्पन्न हुई है। यह व्याकुलता दुख रूप है। इस भांति उपरोक्त समस्त भावनाओं व प्रवृत्तियों के अन्तर्गत दुख की भावना विद्यमान है। यदि उस प्रिय चित्र की रक्षा या प्राप्ति में अन्य तीसरा व्यक्ति, प्रथम व्यक्ति की सहायता करे तो उसके हृदय में तीसरे व्यक्ति के प्रति प्रेम व मित्रता के भाव उत्पन्न होते हैं। इन प्रेम व मित्रता के भावों के अन्तर्गत प्रसन्नता का भाव विद्यमान है।

इसी प्रकार किसी मनुष्य को अपने यश की बात सुनकर प्रसन्नता होती है। जो कोई व्यक्ति उसकी यश-वृद्धि में सहायता करता है उससे प्रेम करने लगता है क्योंकि उस व्यक्ति ने उसके सुख के कारण यश वृद्धि में सहायता की। यदि दूसरा व्यक्ति उसके यश में बाधा डाले या अपयश फैलाये तो

वह उस व्यक्ति से द्वेष करने लगता है क्योंकि उसने सुख देने के बजाय विघ्न डालकर दुःख पहुँचाया। इस प्रकार इन सात्त्विक, राजस एवं तामसिक भावनाओं एवं वृत्तियों में अनुकूलता या प्रतिकूलता की भावना पाई जाती है। यह अनुकूलता या प्रतिकूलता की भावना दुःख या सुख की भावना में रूपान्तरित होती है। इस प्रकार काम क्रोध, लोभ, मद आदि समस्त भावनाओं में दुःख या सुख की भावना से संबद्ध पाई जाती है।

सुख व दुःख की भावनाएँ परस्पर विरोधी हैं। जब मनुष्य सुख अनुभव करता है उस समय दुःख की भावना प्रतीत नहीं होती। इसी प्रकार जब मनुष्य को प्रतिकूलता अनुभव होती है उस समय सुख की भावना विलुप्त हो जाती है। इन दोनों भावनाओं में से केवल एक ही भावना (सुख या दुःख की) किसी एक समय में पाई जाती है। परस्पर विरोधी होने के कारण सुख व दुःख की दोनों भावनाएँ आत्मा के स्वरूप नहीं हो सकतीं। इन दोनों भावनाओं में से एक ही भावना आत्मा का स्वरूप हो सकती है।

प्रत्येक जीव में सुख की कामना पाई जाती है। सुख प्राप्ति के लिए ही उसका प्रत्येक कार्य होता है। कोई भी व्यक्ति किसी भी दशा में दुःख को नहीं चाहता। प्रत्येक दुःख से बचने के लिए सतत प्रयत्न करता है। सुख की कामना एवं दुःख से बचाव की भावना यह बतलाती है कि सुख आत्म-स्वरूप के अनुकूल है और दुःख प्रतिकूल। सुख की आत्म-स्वरूप के साथ अनुकूलता होने से यही परिणाम निकलता है कि सुख आत्मा का स्वरूप है, दुःख उस (आत्मा) का स्वरूप नहीं है।

इसके अतिरिक्त जब मनुष्य आनन्द में मग्न होता है उसकी आत्मा प्रफुल्लित हो उठती है और उसके चेहरे से झलकने लगती है। उसकी शारीरिक शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं। शारीरिक शक्तियों के विकसित होने से शरीर की धातुओं में भी परिवर्तन हो जाता है, मुख से प्रसन्नता व सजीवता टपकने लगती है, शरीर [illegible] हो जाता है। इसके विपरीत मनुष्य के दुःखित होने पर उसकी आत्मा मुरझा जाती है, शारीरिक शक्तियाँ शिथिल पड़ जाती हैं, शरीर पर उदासीनता छा जाती है, चेहरे से मलिनता दिखाई पड़ने लगती है। ... के इन लक्षणों से स्पष्ट है कि

की ... जड़ता की ओर ले जाती है

जडता भौतिक पदार्थ का गुण है और आत्मा के ज्ञान-स्वरूप की घातक है इसलिए दुःख की भावना आत्मा का स्वरूप कदापि नहीं हो सकती। आनन्द की भावना का—जिसके होने से आत्मा प्रफुल्लित आत्मिक शक्तियां विकसित होती हैं—आत्म स्वरूप के साथ आत्मीयता है। आत्म-स्वभाव के साथ आनन्द की आत्मीयता से स्पष्ट है कि आनन्द आत्मा का स्वभाव ही है।

आनन्द भावना के स्वरूप का एक अन्य दृष्टि से विचारने पर भी यही निष्कर्ष निकलता है। प्रत्येक मनुष्य सुख की कामना एवं उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। भिन्न भिन्न अवस्थाओं में भिन्न भिन्न वस्तुओं में सुख अनुभव करता है। उसके सुख का केन्द्र कभी एक वस्तु बनती है और कभी दूसरी। आनन्द का स्वरूप समझने के लिए मानव-जीवन की भिन्न भिन्न अवस्थाओं का परीक्षा करना अनुचित न होगा।

शैशव काल में शिशु माता की गोदी में लेटा स्तन चूसता हुआ आनन्द में मग्न होता है। उसे किसी प्रकार की चिन्ता नहीं होती। माता के स्तनों से कल्लोल करता हुआ असीम आनन्द का अनुभव करता है। कुछ समय पश्चात् वह शिशु बालक अवस्था को प्राप्त होता है। बाल्य अवस्था में आते ही उसके आनन्द का केन्द्र माता की गोदी व स्तनों से हटकर खिलौनों में जा पहुंचता है। अनेक प्रकार के खिलौनों में उसको आनन्द आता है समवयस्क बालकों के साथ खेलने में मुग्ध हो जाता है उसको न भोजन की सुध रहती है और न किसी अन्य वस्तु की।

क्रमशः बालक बड़ा होता है। विद्यार्थी जीवन में पग रखता है। पाठशाला में प्रवेश करता है। अन्य साथी छात्रों से पढ़ने में होड़ लगाता है। परीक्षा में अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होने पर पारितोषिक पाकर ऐसा प्रसन्न होता है कि मानो उसको कुबेर की निधि मिल गई है। बड़ा होने पर उसको पुस्तकों के अध्ययन में आनन्द आने लगता है। छात्र जीवन में प्रवेश करने पर उस बालक के आनन्द का केन्द्र खिलौनों से हटकर पुस्तकों में स्थिर हो जाता है। शिक्षा समाप्त करने पर उसको व्यवसाय की चिन्ता होती है सरकारी नौकरी की तलाश में घूमता है। विविध प्रकार के पेशों की परख का विचार करता है। छात्र-जीवन से नागरिक जीवन में पदार्पण

करते ही उसके आनन्द का क्षेत्र पुस्तकों से हटकर व्यवसाय की सफलता बन जाता है। अति परिश्रम व्यवसाय में स्थिर होकर प्रसन्न होता है। स्वयं उपार्जित धन देखकर मुग्ध हो जाता है।

व्यवसाय में स्थिर होते ही उसका ध्यान गृह की ओर आकर्षित होता है। गृह गृहिणी बिना शून्य प्रतीत होता है। उसका हृदय किसी सुन्दर युवती से मिलन के लिए लालायित हो उठता है। माता पिता योग्य वधू खोजकर धूम धाम से उसका विवाह करते हैं। नव-वधू के साथ आमोद प्रमोद में मग्न रहकर सुख का अनुभव करता है। इस प्रकार उस व्यक्ति का आनन्द केन्द्र व्यवसाय की सफलता से हटकर नववधू में केन्द्रित हो जाता है। कुछ दिनों तक नववधू के सहवास व सम्पर्क में रहने के पश्चात उनको अपना गृह शिशु के बिना शून्य मालूम होता है। मन ही मन में ईश्वर व अन्य इष्ट देवताओं से पुत्र प्राप्ति के लिए प्रार्थना करता है। युवती के गर्भवती होने पर वह पुत्र के जन्म दिवस की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा करता है। पुत्र उत्पन्न होते ही आनन्द में फूला नहीं समाता है। प्रेम से आतुर होकर शिशु का मुख चुम्बन करता हुआ स्वर्गीय आनन्द का अनुभव करता है। इस प्रकार नवविवाहिता युवती से हटकर उसका सुख का केन्द्र शिशु बन जाता है।

कुछ समय के पश्चात् उसके आनन्द का के. फिर बदलता है। गृह स्त्री पुत्र धन आदि वस्तुओं में पहले जैसा आनन्द नहीं आता है। अब उसका हृदय समाज में उच्च पद प्राप्त करने के लिए लालायित हो उठता है। उसको प्रतीत होता है कि सुख उच्च पद प्राप्त करने में ही है। उच्च पद प्राप्त करने की इच्छा से सभा-सोसाइटी में सम्मिलित होता है म्युनिसिपल बोर्ड विधान-सभा लोकसभा आदि की मेम्बरी के लिए खड़ा होता है कलक्टर-कमिश्नर से मिलता है डाली देता है। विधान-सभा आदि का मेम्बर बनकर फूला नहीं समाता है। अपनेको साधारण जनता से ऊंचा समझकर मन-ही-मन प्रसन्न होता है। कितने ही समय तक पद की वृद्धि करनेवाली मेम्बरी सरकारी पद आदि के चक्कर में पड़ा रहता है वृद्ध होने पर मृत्यु का दृश्य नेत्रों के सामने आने लगता है अब उसका हृदय

किसी सांसारिक पदार्थ में नहीं लगता है, भविष्य की चिंता आकर घरने लगती है।

उपरोक्त अवस्थाओं पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि उस व्यक्ति के सुख का केन्द्र समय समय बदलता रहता है। शैशव काल में माता की गोदी में बाल्य अवस्था में खिलौने में छात्र अवस्था में पुस्तकों में, यौवन अवस्था में धन संचय व पत्नी के सहवास में, गृहस्थ अवस्था में पुत्र उत्पत्ति व यश प्राप्ति में रहता है। इस प्रकार उस व्यक्ति के सुख का केन्द्र कभी एक वस्तु में कभी दूसरी वस्तु में बदलता रहता है। इस विवरण से स्पष्ट है कि सुख न माता की गोद में है, न खेल खिलौनों में और न ही अन्य वस्तुओं में। ये समस्त पदार्थ भौतिक हैं स्वयं सुख व आनंद से रहित हैं, फिर कैसे दूसरों को सुख दे सकते हैं? यह सुख की भावना तो स्वयं मनुष्य में विद्यमान है। वह भ्रम से सुख कभी माता की गोद में मानता है कभी खेल खिलौनों में और कभी अन्य वस्तुओं में। मनुष्य की दशा उस हरिण के सदृश है कि जिसके शरीर के भीतर मुश्क (कस्तूरी) उत्पन्न हो गया है और जिसकी सुगंध पर मस्त होकर उस सुगंध को प्राप्त करने के लिए इधर उधर दौड़ता व भटकता है। उसको यह ज्ञात नहीं कि सुगंध की वस्तु तो स्वयं उसके शरीर के भीतर है। सुख व आनन्द की भावना स्वयं मनुष्य के अन्दर है। अज्ञानता के कारण भ्रम वश अन्य वस्तुओं में आनन्द मान लेता है।

मनुष्य भ्रम व मोह बुद्धि से कभी एक वस्तु को सुखदायी समझता है और फिर उसी वस्तु को दुखदायक मानने लगता है। कभी एक ही वस्तु को एक ही समय में दुःख और दूसरे समय में सुखद अनुभव करता है। सन् १६२० से पहले भारत के नागरिक विदेशी बारीक चटकीले भड़कीले वस्त्रों पर मोहित थे स्वदेशी वस्त्र एवं खद्दर को घृणा की दृष्टि से देखते थे। शिक्षित महिलाएं चर्खा चलाने को जंगली व गंवारपन समझती थीं। महात्मा गांधी के भारतीय राजनैतिक क्षेत्र में अवतीर्ण होते ही भारत की उच्च सभ्य कोटि की जनता खद्दर या खादर को दृष्टि से देखने लगी, विदेशी सुन्दर बारीक वस्त्रों को केवल अपने शरीर से उतारकर ही नहीं फेंक दिया वरन् उनको अग्नि में भस्म कर डाला। कुलीन शिक्षित महि

लाए गया गलान में महामाय समझन लगी। यह सब भ्रम मनुष्य की दृष्टिकोण का है। सुख न शारीरिक वि‍े ाी वस्त्र में है और न स्वदेशी महद में। यह सुख आनन्द तो स्वयं मनुष्य की आत्मा में है।

यह हृदय में भली भाति अंकित हो जाने पर कि आनन्द किसी बाह्य वस्तु में नहीं है यह (आनन्द)ना स्वयं उसकी अन्त स्थित आत्मा में विद्यमान है उस व्यक्ति का दृष्टिकोण बिल्कुल बदल जाता है। उसको सांसारिक पदार्थों में सुख या दुख प्रतीत नहीं होता है मोह क्षीण हो जाता है भ्रम बुद्धि नष्ट हो जाती है बाह्य पदार्थों को समभाव से देखने लगता है स्थितप्रज्ञ की अवस्था को प्राप्त हो जाता है। पहले बात-बात में उसको क्रोध आता था। अपनेको उच्च समझकर दूसरों का तिरस्कार करता था। दूसरे व्यक्तियों की धन-सम्पत्ति एव ऐश्वर्य देखकर उसके हृदय में ईर्ष्या का भाव उत्पन्न होता था। सुन्दर रमणियों के अवलोकन से काम-तृष्णा जागृत हो उठती थी। व्यापार में प्रतियोगिता होने के कारण अन्य व्यापारियों के प्रति द्वेषाग्नि भड़क उठती थी। इस भांति अनेक प्रकार की कुवृत्तियाँ लगातार अपना कार्य करती रहती थी। दृष्टिकोण में परिवर्तन हो जाने पर साम्य भाव का साम्राज्य स्थापित हो जाता है कुवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं उनके स्थान पर दया क्षमा नम्रता प्रेम आदि शुभ प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। दुखित जीवों के दुःख दूर करने में उसको आनन्द आने लगता है। उसे प्राणि मात्र से प्रेम हो जाता है। प्रेम का प्रवाह चारों ओर वेग से बहने लगता है। उसका गृह प्रेम-कुटी बन जाता है।

ज्यों ज्यों उसकी कुवृत्तियाँ नष्ट होती जाती हैं और उनके स्थान पर शुभ भावनाएं व वृत्तियाँ अपना आधिपत्य स्थापित करती जाती हैं त्यों-त्यों वह व्यक्ति अधिकाधिक आनन्द अनुभव करता है। जब वह व्यक्ति समाधि लगाकर अपने ज्ञान व आनन्द स्वरूप में मग्न होता है उस समय वह अनुपम अलौकिक आनन्द का रसास्वादन करता है उसकी आत्मिक जीवन शक्ति का वेग के साथ संचार होता है। अन्त में एक ऐसी अनुपम अवस्था को प्राप्त होता है जो दिव्य ज्ञान से आलोकित व नित्य आनन्द से ओतप्रोत है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आनन्द आत्मा का स्वरूप है और आत्मा का यह आनन्द-स्वरूप कुछ अज्ञान कारणों से कलुषित व विकृत

होकर आत्मा में सुख की कामना के रूप में प्रदर्शित होता है और यह सुख की कामना काम क्रोध आदि अनेक प्रकार के विभावो से रजित हुई दिखलाई देती है।

३—अनन्त शक्ति

मनुष्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए निश्चित किया जा चुका है कि मनुष्य के भीतर सकल्प या इच्छा शक्ति है। यह सकल्प शक्ति मनुष्य के भीतर लाइनमन के सदृश काय करती रहती है। जैसे लाइनमन के बटन दबाते ही विद्युत वेग से तार पर दौडने लगती है मशीनें जो अब तक बन्द पडी थी चलने लगती हैं अनेक प्रकार का सामान तयार होने लगता है विद्युत का प्रकाश चारो ओर फैल जाता है एव चतुर्दिक फले हुए अधकार का नाश हो जाता है वही काय मनुष्य के अन्तर्गत सकल्प शक्ति का है। इस शक्ति के कमशील होने पर मनुष्य में जीवन का सचार होता है उसकी ज्ञान व कर्मेन्द्रिया कम-जगत में उद्यमशील होती हैं उसके हस्त पाद आदि अग एव समस्त शरीर सकल्प के अनुसार काय करने लगते हैं। इसी शक्ति के कारण मनुष्य अनेक वस्तुओ का भोग व उपभोग ग्रहण या त्याग करता है। इस सकल्प शक्ति के अकमण्य होने पर नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रिया अपना व्यापार-काय बन्द कर देती हैं हस्तपाद आदि कर्मेन्द्रियां शिथिल होकर मतवत हो जाती हैं एव मनुष्य निर्जीव-सा प्रतीत होने लगता है। इस सकल्प शक्ति के पुन जागृत होने पर मनुष्य अनेक प्रकार के काय फिर करने लगता है। ससार में जितने महान पुरुष हुए हैं उनमें यह सकल्प शक्ति बहुत अधिक मात्रा में पाई जाती है। इस शक्ति के अधिक प्रबल होने पर मनुष्य अनेक आपत्ति व बाधाओ को जीतकर महान् पद को प्राप्त होता है।

इस सकल्प शक्ति के साथ साथ मनुष्य में अन्य प्रकार की शक्तियां भी प्रतीत होती हैं। मनुष्य में साहस व पौरुष है जिसके कारण ही मनुष्य पुरुष कहलाता है और अनेक प्रकार के कठिन से कठिन काय कर डालता है। जिस मनुष्य में साहस व पौरुष की कमी है वह मनुष्य नही वरन् नपुसक है मिट्टी के सदृश मृत है। इस साहस व पौरुष के बल पर ही मनुष्य दिग्विजयी होता है ससार में अनेक प्रकार के महान् काय करता है। सकल्प

शक्ति व साहस के अत्यन्त दृढ़ होने पर मनुष्य काम क्रोध आदि अशुभ भावनाओं वृत्तियों एवं इन्द्रियों का दमन करके जितेन्द्रिय बन सर्वज्ञ व परमानन्द अवस्था को प्राप्त कर सकता है। इससे ज्ञात होता है कि आत्मा में अनेक प्रकार की शक्तियां विद्यमान हैं।

जिस प्रकार सतत प्रयत्न करने पर ज्ञान का पूर्ण विकास व परमानन्द अवस्था की प्राप्ति होती है उसी प्रकार सतत प्रयत्न करने पर मनुष्य के अन्तर्गत शक्ति का भी पूर्ण विकास हो सकता है। इसलिए आत्मा को अनन्त शक्ति युक्त भी मानना होगा।

४—आत्मा सच्चिदानन्द है

उपर्युक्त अनुसन्धान से यह निष्कर्ष निकलता है कि यह आत्मा स्वभाव रूप से ज्ञाता द्रष्टा आनन्दमयी एवं अनन्त शक्ति युक्त है। दूसरे शब्दों में इस आत्मा के स्वभाव को सच्चिदानन्द स्वरूप कह सकते हैं[1]। कुछ कारणों से (जिनका अनुसन्धान आगे किया जायगा) आत्मा का यह अनन्त ज्ञान दर्शन, आनन्द व वीर्य-स्वरूप आवृत हो रहा है।

[1] सच्चिदानन्द शब्द सत् + चित् + आनन्द तीन शब्दों से मिलकर बना है। सत् का अर्थ सत्ता या अस्तित्व है। सत्ता आत्मा की वीर्य शक्ति का द्योतक है। चित् का अर्थ चैतन्य है जिसमें आत्मा का ज्ञान दर्शन स्वरूप निहित है। इस प्रकार सच्चिदानन्द शब्द से आत्मा के पूर्ण स्वरूप का बोध होता है।

किसी प्रियजन की मृत्यु सम्पत्ति विनाश आदि किसी दु:खद घटना का समाचार सुनता है उस समय उस व्यक्ति को अत्यन्त मानसिक कष्ट पहुंचता है जिसके कारण उसका मुख उदास हो जाता है शरीर का लावण्य व तेज नष्ट हो जाता है अगों में शिथिलता आ जाती है शरीर पीला पड जाता है। वह व्यक्ति ऐसा दिखाई देने लगता है कि मानो कई मास से रोग से पीडित हो। मानसिक दु:ख होने से उसकी आत्मिक शक्तिया भी शिथिल पड जाती हैं किसी भी कार्य को करने के लिए उसका मन उत्साहित नही होता, उसकी दशा जर्जर हो जाती है। उस व्यक्ति के दु:खित होने का प्रभाव उसकी समस्त आत्मिक शक्ति मानसिक चेष्टा एव शरीर के सम्पूर्ण अगों पर पडता है।

इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति पुत्र-जन्म विपुल धन प्राप्ति आदि कोई सुखद समाचार सुनता है उस समय वह अत्यन्त हर्षित होता है उसका मुखमण्डल प्रफुल्लित हो उठता है शरीर रोमाचित हो जाता है हृदय में उत्साह बढ जाता है आत्मिक शक्तिया विकसित हो जाती हैं समस्त वायु मडल उसको आनन्दमय प्रतीत होने लगता है। इस भाति उस व्यक्ति के आनन्दित होने का प्रभाव उसके सम्पूर्ण शरीर के अगो पर पडता है।

इस प्रकार सुख या दु:ख देनेवाले कार्य का प्रभाव आत्मा की प्रत्येक शक्ति मानसिक चेष्टा एव शरीर के प्रत्येक भाग पर पडता है। ऐसा प्रतीत नही होता कि इन कार्यों का प्रभाव केवल मस्तिष्क हृदय या अन्य किसी निश्चित स्थान पर ही पडता हो और अन्य स्थान प्रभावित न होते हो। इस घटना से—शरीर का प्रत्येक भाग प्रभावित होता है—प्रकट होता है कि आत्मा शरीर के प्रत्येक भाग में विद्यमान है। सुखद या दु:खद घटना का प्रभाव मस्तिष्क द्वारा आत्मा पर पडता है जिससे शरीर के समस्त अग प्रभावित होते हैं। शरीर रोमाचित मुख प्रफुल्लित हृदय उत्साहित आत्मिक शक्तिया विकसित या शरीर कान्तिहीन मुख मलीन हृदय निरुत्साहित आत्मिक शक्तिया सकुचित होती हैं।

शरीर में पीडा होने के अनुभव से भी इसी परिणाम पर पहुचा जाता है कि आत्मा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। जब किसी व्यक्ति के किसी अंग में पीडा होती है, फोड़े के पकने बिच्छू आदि किसी विषैले जन्तु के काटने

शस्त्र आघात होने हड्डी आदि टूटने की तीव्र वेदना होती है, तत्काल ही उसको उस पीड़ा के कष्ट का अनुभव होने लगता है उससे व्याकुल हो उठता है। यदि किसी दूसरे व्यक्ति के शरीर में पीड़ा होती हो और उससे व्यथित होकर रुदन भी करता हो तो उस पीड़ा का ज्ञान होने पर भी उसका विशेष प्रभाव प्रथम व्यक्ति पर नहीं पड़ता है। यदि दूसरा व्यक्ति पुत्र आदि प्रियजन है तो उसकी वेदना का ज्ञान होने से प्रथम व्यक्ति के हृदय में दुःख अवश्य होता है। परन्तु यह दुःख उस कष्ट के अनुभव से जो अपने शरीर में पीड़ा होने से होता है सर्वथा भिन्न प्रकार का है। अपने शरीर में पीड़ा होने से एक प्रकार के दुःख की सनसनी पीड़ा के स्थान विशेष पर होती है। कभी कभी यह पीड़ा निकटवर्ती अन्य अंग और कभी-कभी सम्पूर्ण शरीर में होने लगती है। यह जानना भी कठिन हो जाता है कि शरीर के किस स्थान विशेष पर यह पीड़ा हो रही है।[1] अन्य सब समीप वर्ती प्रिय व्यक्ति के शरीर में पीड़ा होने की सूचना प्रथम व्यक्ति को मिलती है उस समय उस दुःखद समाचार से उसके (प्रथम व्यक्ति के) हृदय में मानसिक कष्ट अवश्य होता है परन्तु उस प्रिय व्यक्ति के दुःख की सनसनी का कुछ भी अनुभव उसको नहीं होता है। शरीर के किसी भी भाग में पीड़ा होने से दुःख की सनसनी का विशेष प्रकार का अनुभव बतलाता है कि उस पीड़ित भाग में आत्मा विद्यमान है। यह अनुभव शरीर के प्रत्येक भाग में होता है इसलिए कहना पड़ता है कि आत्मा शरीर के प्रत्येक भाग में विद्यमान है।

यदि यह कहा जाय कि शरीर के उस पीड़ित स्थान में आत्मा का अस्तित्व नहीं है आत्मा हृदय मस्तिष्क या अन्य किसी स्थान विशेष पर स्थित है पीड़ा का ज्ञान शरीर के उस भाग में विद्यमान सूक्ष्म तन्तुओं द्वारा मस्तिष्क तक पहुंचता है और वहां से यह ज्ञान अन्य सूक्ष्म तन्तुओं द्वारा हृदय आदि आत्मा के रहने के स्थान विशेष तक पहुंच जाता है जिससे आत्मा को दुःख का भान होता है आत्मा के दुःखित होने से शरीर संकुचित व उदासीन हो जाता है। ऐसी दशा में अपने शरीर में उत्पन्न पीड़ा का दुःख उस मान

---

[1] इस प्रकार के अनुभव से प्रायः प्रत्येक व्यक्ति परिचित है।

सिक दुख के सदृश होना चाहिए जो उसको उस समय होता है जब वह अपने नेत्रों के सामने अपने प्रिय पुत्र के शरीर में शस्त्र के आघात से गहरा घाव देखता है जिसकी वेदना से पुत्र क्रन्दन करता है। प्रिय पुत्र के शस्त्र के आघात द्वारा जख्म का चित्र एवं वेदना में क्रन्दन के शब्द, उस व्यक्ति के मस्तिष्क आदि आत्मा के रहने के स्थान विशेष तक नेत्र कर्ण आदि इन्द्रियाँ एवं तत्सम्बन्धी सूक्ष्म तन्तुओं द्वारा पहुंच जाते हैं। ऐसी दशा में दोनों प्रकार के दुख—अपने शरीर में उत्पन्न हुई पीड़ा का दुख व अपने प्रिय पुत्र की पीड़ा के ज्ञान से उत्पन्न हुआ मानसिक कष्ट—सर्वथा एक-दूसरे के समान होने चाहिए। इनमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं हो सकता क्योंकि इन दोनों दशाओं में निर्जीव स्थान की—प्रथम दशा में अपने निर्जीव शरीर की दूसरी दशा में अपने शरीर से पृथक पुत्र शरीर की—पीड़ा का ज्ञान सूक्ष्म तन्तुओं द्वारा आत्मा को होता है।

अनुभव बतलाता है कि इन दोनों दशाओं का दुख एक सा नहीं है। प्रथम दशा में अपने शरीर में पीड़ा रहने से दुख की सनसनी का जो विशेष प्रकार का अनुभव होता है वह उस मानसिक कष्ट से—जो उसको दूसरी दशा में अपने प्रिय पुत्र की पीड़ा के ज्ञान से होता है—सर्वथा भिन्न है। अपने शरीर के किसी भी भाग में पीड़ा होने से उत्पन्न हुए विशेष प्रकार के दुख की सनसनी के अनुभव से स्पष्ट है कि शरीर के उस भाग में आत्मा विद्यमान है। शरीर के किसी भी भाग में पीड़ा होने से विशेष प्रकार के दुख की सनसनी होती है इसलिए यह मानना पड़ता है कि सम्पूर्ण शरीर में आत्मा व्याप्त है। इस अनुसंधान से प्रगट है कि आत्मा शरीर के मस्तिष्क हृदय या किसी अन्य विशेष स्थान के अन्दर निहित नहीं वरन् सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है।

किसी व्यक्ति का अन्य प्रियजन के शारीरिक कष्ट से केवल मानसिक कष्ट होता है। यह मानसिक कष्ट उसी श्रेणी का कष्ट है जोकि उस व्यक्ति को अकस्मात् अधिक धन-सम्पत्ति के विनाश या किसी अन्य बड़ी हानि से होता है। प्रियजन की पीड़ा धन सम्पत्ति विनाश आदि से उस व्यक्ति का मानसिक कष्ट इस कारण होता है कि उसको उनसे मोह है उनको अपना समझता है। यदि उन पदार्थों में ममत्व न हो उनको अपना

न समझता हो तो इन बातो से तनिक भी मानसिक कष्ट उसको न होगा, जैसा कि किसी अपरिचित मनुष्य की पीड़ा, धन-सम्पत्ति के विनाश आदि से किसी व्यक्ति को भी कष्ट नही होता है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि मानसिक कष्ट का होना उस व्यक्ति की भावनाओ पर निर्भर है। भावनाओ का अस्तित्व भौतिक पदार्थों के अस्तित्व के सदृश नही है। ये भावनाएँ केवल काल्पनिक हैं। इस घटना से—एक व्यक्ति को दूसरे अपरिचित मनुष्य की शारीरिक पीडा से किसी प्रकार का दुःख नही होता है—प्रगट है कि प्रथम व्यक्ति की आत्मा दूसरे मनुष्य के पीडित स्थान मे विद्यमान नही है। इससे सिद्ध होता है कि किसी व्यक्ति की आत्मा उसके शरीर से बाहर व्याप्त नही है।

इस अनुसंधान से यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्मा एक अखंड अमूर्तिक पदार्थ है जो न मनुष्य शरीर से बाहर व्याप्त है और न शरीर के किसी विशेष भाग मे केन्द्रित है। यह आत्मा मनुष्य के सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त है उसका आकार किसी भी मनुष्य के शरीर के आकार मात्र है। जैसे शरीर की आकृति मे बाल्य अवस्था से यौवन अवस्था पर्यन्त वृद्धि और यौवन अवस्था से मृत्यु पर्यन्त संकोच होता रहता है उसी प्रकार शरीर मे व्याप्त आत्मा भी शरीर की वृद्धि के साथ साथ विस्तरित एवं शरीर के संकोच के साथ संकुचित होता रहता है।

२—वैज्ञानिकों के मत

आत्मा के आकार व रहने के स्थान विशेष के सम्बन्ध मे मनोवैज्ञानिकों ने कितने ही अनुसंधान किये हैं जिनमे से श्री मेहर की सम्मति उद्धृत की जाती है। श्री मेहर अपनी मनोविज्ञान सम्बन्धी पुस्तक मे लिखते हैं—

प्राचीन व वर्तमान काल के दार्शनिकों मे इस विषय पर बड़ा वाद-विवाद रहा है कि आत्मा शरीर के किस भाग मे स्थित है। कुछ दार्शनिकों ने आत्मा के रहने का स्थान हृदय समझा था कुछ ने मस्तक कुछ ने मस्तिष्क के विभिन्न भाग। इस विषय मे घोर मत भेद का कारण यह प्रतीत होता है कि अधिकतर विद्वानो ने, भ्रम से यह समझ लिया था कि आत्म-तत्त्व की सरलता इस बात में है कि वह आकार मे भी सूक्ष्म गणित

के भिन्न सत्य हों। इसका फल यह हुआ कि सतत निष्फल प्रयत्न इस बात के लिए किए गए कि शरीर के अन्दर एक ऐसा केन्द्रीय स्थान का पता लगाया जाय जिससे शरीर के भिन्न-भिन्न भाग सूक्ष्म तन्तुओं द्वारा सबंधित हों। आत्मा की अखण्डता ज्ञान व संकल्प शक्ति की अखण्डता के सदृश आकार की सूक्ष्मता में नहीं है। आत्मा एक अभौतिक शक्ति है विद्वानों के शब्दों में कहा जाता है कि आत्मा जिससे शरीर में स्फूर्ति आती है सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। यह शरीर को आवृत किये हुए नहीं है वरन् शरीर में सीमित है आत्मा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है परन्तु गुरुत्व की दृष्टि से नहीं। शरीर के प्रत्येक भाग में पूर्ण शक्ति का धारण किये हुए, यह आत्मा विद्यमान है यदि शरीर—जिसमें मनुष्य की शक्तियों का प्रयोग सीमित है—वृद्धि या ह्रास होता है तो अलंकारिक भाषा में कहा जा सकता है कि आत्मा में वृद्धि या ह्रास—उसके आकार व कायतन में विस्तार या संकोच—होता है। परन्तु वास्तव में आत्म-तत्त्व की मात्रा में गुरुत्व की दृष्टि से कोई परिवर्तन नहीं होता।[1]

शरीर में व्याप्त आत्मा का कोई उपयुक्त दृष्टान्त इस प्राकृतिक जगत में दिखलाई नहीं देता है। इसका कारण यह है कि आत्मा सरल अदृश्य अविभाजित असंयुक्त पदार्थ है जब कि भौतिक पदार्थ संयुक्त विभाजित एवं इन्द्रिय-गम्य है। मानव-समाज वृद्धि व ह्रास में साधारणतः पदार्थ की मात्रा में वृद्धि व ह्रास को समझता है। आत्मा के आकार में वृद्धि या

---

[1] यह उल्लेखनीय है कि आत्मा के आकार सम्बन्ध में प्राचीन यूनान व रोमवासियों का भी यही मत था कि आत्मा शरीर के आकार मात्र है और शरीर की वृद्धि व संकोच के साथ साथ आत्मा का आकार भी विस्तरित या संकुचित होता रहता है। श्री जे० डब्ल्यू० ड्रेपर ने अपनी पुस्तक दी कनफ्लिक्ट बिट्वीन रिलीजन एंड साइन्स में लिखा है—

'ईसाई धर्म को न मानने वाले यूनान व रोमवासियों का यह विश्वास था कि मनुष्य की आत्मा का आकार शरीर के आकार मात्र है शरीर में परिवर्तन व वृद्धि होने के साथ साथ आत्मा के आकार में भी परिवर्तन व वृद्धि होती रहती है।

ह्रास म उसकी मात्रा मे कोई अन्तर नही पडता है। उसमे अन्तर केवल आत्म म विस्तरित या सकुचित होन से है।

प्रकाश क दृष्टान्त स आत्मा के विस्तार व सकोच को कुछ कुछ समझा जा सकता है जसे कमरे म स्थित लम्प का प्रकाश उस कमरे म फलकर कमरे के आकार मात्र हो जाता है। यदि वह लम्प किसी बड कमरे म रख दिया जाय तो उसका प्रकाश विस्तरित होकर बड कमरे के आकार मात्र हो जाता है और यदि वही लम्प किसी छोट कमरे मे रख दिया जाय तो उसका प्रकाश सकुचित होकर छोटे कमरे के आकार मात्र रह जाता है। इसी प्रकार आत्मा जसे शरीर में जन्म धारण करता है उसी क आकार मात्र हो जाता है। यदि शरीर बडा होता है तो विस्तरित हो जाता है और यदि छोटा होता है तो सकुचित हो जाता है।

७

आत्मा का अमरत्व

१—विज्ञानानुसार

आत्मा का स्वरूप निर्णय किये जाने के पश्चात् यह जानना आवश्यक है कि जीव कहाँ से आया है? क्या किसीने इसको बनाया है? शारीरिक मृत्यु के पश्चात् क्या आत्मा का विनाश हो जाता है? क्या यह आत्मा अमर, अविनाशी एवं अनन्त है?

इन प्रश्नों का निर्णय करने के लिए दैनिक घटनाओं का अवलोकन एवं परीक्षण करना होगा। इस जगत में जितने द्रव्य देखे जाते हैं उनकी अवस्थाओं में सदैव परिवर्तन होता रहता है परन्तु उन द्रव्यों के मूल तत्त्व का नाश कभी नहीं होता। स्वर्ण कभी कंगन, कभी मुद्रिका, कभी हार, कभी किसी अन्य सुन्दर भूषण के रूप में दृष्टिगोचर होता है, कभी अशर्फी सावरन आदि सिक्का बनकर बाज़ार में घूमता है, कभी तांबा, लोहा आदि धातु व मृत्तिका आदि पदार्थों से मिश्रित हुआ भूगर्भ से निकलता है। इस प्रकार स्वर्ण-पदार्थ की अवस्था में सर्वत्र परिवर्तन होता हुआ दिखलाई देता है परन्तु इन अवस्थाओं में परिवर्तन होते हुए भी स्वर्ण अपने मूल तत्त्व स्वर्णत्व को कदापि नहीं त्यागता है। यही दशा हाइड्रोजन, आक्सीजन गैसों की है। जब इन दोनों गैसों का परस्पर संयोग होकर संयुक्त पदार्थ बनता है उस समय ये जल का रूप धारण कर लेते हैं। ठंड के लगने पर यह जल जमकर बर्फ के रूप में परिणत हो जाता है। यही जल अग्नि आदि उष्ण पदार्थ की उष्णता पाकर वाष्प बन जाता है। यह भाप ठंड पाकर मेघ के रूप में आकाश में विचरती हुई दिखलाई देती है। यही जल कारबन नाइट्रोजन आदि तत्त्वों के साथ संयुक्त होकर फलों के मधुर रस में परिवर्तित हो जाता है। ये फल खाये जाने पर मनुष्य के शरीर में प्रवेश करके रक्त, मज्जा आदि सप्त धातुओं में परिणत हो जाते हैं जिनसे शरीर की

पष्टि होता है। इस प्रकार य हाइड्रोजन, आक्सीजन आदि वायु अनेक रूप धारण करती हैं एवं अनेक वस्तुओं के रूप में दिखाई देती हैं परन्तु नाना प्रकार के पदार्थों का रूप धारण करते हुए भी ये अपने मूल तत्त्व के स्वरूप का कदापि नहीं त्यागती हैं।

यही दशा जगत के अन्य पदार्थों की है प्रत्येक पदार्थ की अवस्था में सतत परिवर्तन होता रहता है परन्तु किसी पदार्थ के मूल तत्त्व का विनाश कभी नहीं होता। पदार्थों की अवस्थाओं में निरन्तर परिवर्तन तथा उनके मूल तत्त्वों की ध्रौव्यता देखकर वैज्ञानिकों ने निम्नलिखित दो सिद्धान्त स्थिर किये हैं—

१ संसार में न किसी वस्तु का विनाश होता है न कोई वस्तु शून्य से उत्पन्न होती है।

२ यद्यपि द्रव्य की अवस्था में सतत परिवर्तन होता रहता है तो भी उसके मूल तत्त्व का विनाश कभी नहीं होता।

आत्मा अनादि सत मूल तत्त्व है जैसा कि पहले निश्चित किया जा चुका है। यह मिश्रित या संयुक्त पदार्थ नहीं है न यह विभाजित किया जा सकता है। यदि उपर्युक्त वैज्ञानिक सिद्धान्त आत्मतत्त्व पर लगाये जाय तो यह कहना पड़ता है कि आत्मा न कभी उत्पन्न हुआ है और न कभी उसका विनाश होगा केवल इसकी अवस्था में परिवर्तन होता रहेगा। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आत्मा अमर अविनाशी, मूल तत्त्व है जिसका न आदि है न अन्त।

२—तात्त्विक विवेचन

वैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार समीक्षण करने से यही फल निकलता है कि इस आत्मा का बनानेवाला कोई कर्त्ता नहीं है। यह आत्मा स्वयं सिद्ध अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगा। अन्य प्रकार से अनुसंधान करने पर भी इसी परिणाम पर पहुंचा जाता है कि जीव का कर्त्ता कोई नहीं है। यह आत्मा स्वयं सिद्ध अनादि और अनन्त है।

एक स्त्री के एक साथ दो पुत्र उत्पन्न होते हैं। वे दोनों बालक एक ही वातावरण में साथ-साथ रखे जाते हैं। उनका पालन पोषण एक-सा होता

हैं। एकम ही सब साथ साथ खलते हैं। माता पिता तथा अन्य मनुष्यों का बर्ताव उनके साथ एक-सा होता है। उनको एक-सी ही शिक्षा दी जाती है। सारांश में दोनों बालकों का पालन-पोषण व शिक्षा आदि एक सी परिस्थिति में होती है। एक ही वातावरण में रहने व एकसी ही परिस्थिति में पालन किये जाने पर भी इन दोनों बालकों के शरीरों की बनावट चाल ढाल रूप रंग आदि में अन्तर पाया जाता है। इनके विचार भावना आदि मानसिक चेष्टाए भी एकसी नहीं होती। एक-सी परिस्थिति में पालन पोषण एवं शिक्षित किये जाने पर भी इन बालकों में अन्तर क्यों? इस अन्तर का क्या कारण हो सकता है? बाह्य परिस्थिति एक-सी होने से, कोई बाह्य कारण इस अन्तर का दृष्टिगोचर नहीं होता इसलिए इस अन्तर का अन्य कोई अदृश्य गुप्त कारण मानना होगा। सूक्ष्म दृष्टि से विचारने पर इस अन्तर के निम्नलिखित दो अदृश्य कारण हो सकते हैं—

१ इन बालकों के व्यक्तित्व को किसी बाह्य अदृश्य शक्ति या व्यक्ति ने बनाया है और उसने बनाते हुए इन बालकों के व्यक्तित्व में अन्तर कर दिया है। व्यक्तित्व में अन्तर होने से, एकसी परिस्थिति में पोषित किये जाने पर भी इनके शरीर के निर्माण, मानसिक चेष्टा आदि में अन्तर हो जाता है। या

२ इन बालकों के शरीर के अन्त स्थित जो आत्माए हैं उनके—पूर्व संस्कार में विभिन्नता होने के कारण एक ही वातावरण में पोषित किये जाने पर भी—*शरीर के निर्माण प्रकृति मानसिक चेष्टा आदि के विकास* में अन्तर पड जाता है।

इन दो सम्भावित कारणों में से पहिले प्रथम कारण की समीक्षा करनी उचित होगी कि क्या किसी अदृश्य शक्ति या व्यक्ति ने इन बालकों का निर्माण किया है और निर्माण करते हुए इनके व्यक्तित्व में अन्तर कर दिया है? प्राणियों का कर्त्ता किसी अदृश्य शक्ति को मान लेने में कितनी ही बाधाए उपस्थित होती हैं जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

१ प्राणियों के बनाने में कर्त्ता का क्या प्रयोजन है? बिना प्रयोजन के कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति किसी काय को नहीं करता है। संसार के

अनन्त प्राणियों की रचना का दुष्कर कार्य स्वल्प बुद्धि का कार्य नहीं हो सकता। इसके लिए अनन्त ज्ञान एवं अनन्त सामर्थ्य की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त जब मनुष्य की आत्मा में सम्पूर्ण पदार्थों के जानने की शक्ति विद्यमान है तो इस आत्मा के बनानेवाले कर्त्ता में भी सम्पूर्ण पदार्थों के जानने की शक्ति अर्थात् सर्वज्ञता अवश्य होनी चाहिए। सर्वज्ञ कर्त्ता किसी कार्य को बिना विशेष प्रयोजन के कदापि नहीं करेगा। कोई उचित प्रयोजन सृष्टि या प्राणि-समाज की रचना का दृष्टिगोचर नहीं होता। निम्नलिखित दो प्रयोजन सृष्टि रचना के कहे जा सकते हैं—

(क) सृष्टि रचना सर्वज्ञ कर्त्ता का स्वभाव है। यदि ऐसा माना जाय तो इसमें कुछ आपत्तियां आती हैं। जो वस्तु उत्पन्न होती है उसका नाश भी अवश्य होता है। यह सिद्धान्त अटल है। इसकी सत्यता निर्विवाद सिद्ध है। संसार के प्रत्येक पदार्थ की अवस्था में परिवर्तन व प्रत्येक घटना इस सिद्धान्त की सत्यता को घोषित करती है। इसलिए इस सिद्धान्त की सत्यता के सम्बन्ध में अधिक आवेदन करना व्यर्थ है। इस सिद्धान्त के अनुसार यह मानना होगा कि यदि उस सर्वज्ञ कर्त्ता का स्वभाव प्राणि समाज की रचना करना है तो उसका स्वभाव प्राणि-समाज का विनाश करना भी है अर्थात् उस सर्वज्ञ कर्त्ता का स्वभाव प्राणि-समाज का उत्पादन व विनाश करना भी है। अर्थात् उस सर्वज्ञ कर्त्ता का स्वभाव प्राणि-समाज का उत्पादन व विनाश करना सिद्ध होता है।

संसार में कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति किसी वस्तु को बनाकर नष्ट नहीं करता। यदि बनाने के पश्चात् उस व्यक्ति को उस वस्तु के निर्माण में त्रुटि दिखलाई देती है तो वह उस त्रुटि को दूर करने के लिए उस वस्तु को तोड़ डालता है त्रुटि एवं दूषण से मुक्त करके फिर उस वस्तु का निर्माण करता है। कर्त्ता की तुलना अज्ञानी मनुष्य के साथ इस विषय में नहीं की जा सकती। कर्त्ता सर्वज्ञ है वह सब वस्तुओं के स्वभाव व उनकी भिन्न भिन्न अवस्थाओं को पूर्णतया जानता है। ऐसे सर्वज्ञ कर्त्ता के कार्य में त्रुटि का होना असम्भव है। किसी वस्तु का निर्माण करके फिर उसको नष्ट कर देना यह कार्य तो बालकों की लीला के सदृश है। इस लीला में अज्ञानता की गन्ध आती है। सर्वज्ञ कर्त्ता का ऐसा स्वभाव नहीं हो सकता कि जिसमें

अल्पज्ञता या अज्ञानता का सद्भाव हो। इसलिए प्राणि समाज की रचना सर्वज्ञ कर्त्ता का स्वभाव नहीं हो सकता।

(ख) दूसरा प्रयोजन सृष्टि रचना का यह कहा जा सकता है कि सर्वज्ञ कर्त्ता ने मनुष्य-पशु आदि प्राणि-समाज की रचना अपना ऐश्वर्य व सामर्थ्य दिखलाने के लिए की है। ऐसा मान लेने में दो बाधाएं उपस्थित होती हैं—

(अ) सर्वज्ञ कर्त्ता अहंकार व अभिमान के दोष का आरोपण होता है। एक ऐसे व्यक्ति में—जो जगत के चर अचर समस्त पदार्थ अहंकार आदि समस्त भावनाओं के दोष व गुण को पूर्णतया भली भांति जानता है—अहंकार व अभिमान का दोष शोभा नहीं देता।[1] इसलिए यह प्रयोजन बुद्धि का अग्राह्य है।

(आ) अपना ऐश्वर्य व सामर्थ्य उस व्यक्ति को दिखलाया जाता है कि जो इन विशेषताओं (ऐश्वर्य व सामर्थ्य) की क्षमता में बराबरी या उच्चता का दावा करता है। इस अवस्था में तो सर्वज्ञ कर्त्ता के अतिरिक्त न कोई प्राणी है (क्योंकि प्राणि-समाज का उत्पादक कर्त्ता को मान लेने से किसी प्राणी का अस्तित्व पहले से स्थित नहीं रहता), न बराबरी न उच्चता का दावा करनेवाला कोई व्यक्ति ही है। ऐसी दशा में सामर्थ्य व ऐश्वर्य दिखलाना प्राणि-समाज के निर्माण का प्रयोजन नहीं हो सकता। इसलिए कोई व्यक्तिगत हृदयग्राह्य प्रयोजन सृष्टि रचना का प्रतीत नहीं होता।

२ दूसरी बाधा यह आती है कि सर्वज्ञ कर्त्ता ने प्राणि-समाज की रचना किस पदार्थ से की है? शून्य से अथवा अपने निज शरीर से या किसी अन्य पदार्थ के अस्तित्व से जो पहले से ही विद्यमान था? यदि कहा जाय कि सर्वज्ञ कर्त्ता ने शून्य (पदार्थों के अभाव की दशा) से बनाया है तो यह

---

[1]ऐसा माननेवाले प्रायः कर्त्ता व ईश्वर को आनन्दमय भी मानते हैं। अहंकारी व अभिमानी व्यक्ति आनन्दमयी नहीं हो सकता। अहंकार की भावना आनन्द-स्वरूप की घातक है। इस हेतु से ईश्वर को जगतकर्त्ता मानने में उसके आनन्द स्वरूप में भी बाधा पड़ती है।

का विनाश तथा नवीन प्राणि-समाज की रचना का कार्य भी बन्द हो जायगा। नये प्राणियों के उत्पन्न न होने तथा पहिले प्राणियों के मृत्यु को प्राप्त हो जाने से संसार प्राणिशून्य हो जायगा एवं प्रलय सत्त्व के लिए हो जायगी। यह परिणाम विद्यमान परिस्थिति के विरुद्ध होने से हृदय को अग्राह्य है।

द्वितीय दूषण यह आता है कि ऐसा मान लेने से उस कर्त्ता को भिन्न भिन्न अस्तित्व रखनेवाले अनेक अंशों का समूह मानना होगा क्योंकि किसी अखंड द्रव्य का न भेद किया जा सकता है और न उसमें पृथक भाग। ऐसी दशा में उस अनन्त शक्ति अनन्त ज्ञानवाले कर्त्ता को भिन्न भिन्न स्वतन्त्र अस्तित्व रखनेवाले असंख्यात कर्त्ताओं का समूह मानना होगा। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अनन्त ज्ञान अनन्त शक्ति युक्त कर्त्ता एक नहीं है वरन ऐसे अनन्त कर्त्ता हैं। जितने कर्त्ता हैं उतने ही प्राणी हो सकेंगे। भिन्न भिन्न अस्तित्व रखनेवाले अनन्त कर्त्ताओं के होने से उन सबका कार्य सत्त्व एक जैसा नहीं होगा। उनके कार्य में परस्पर भेद व विरोध होने के कारण कर्त्तव्य-कार्य ही बन्द हो जायगा। इसके अतिरिक्त ऐसी दशा में कर्त्ता एवं प्राणि-समाज में कोई अन्तर नहीं रहेगा क्योंकि प्रत्येक कर्त्ता ही प्राणी का रूप धारण कर लेता है। इन कारणों से यह कथन कि कर्त्ता अपने दिव्य शरीर में से प्राणिसमाज की रचना करता है मानने के अयोग्य है।

यदि यह कहा जाय कि उस अनन्त सामर्थ्य व अनन्त ज्ञान युक्त कर्त्ता का प्रतिबिम्ब कुछ विशेष भौतिक पदार्थों पर पड़ता है या उससे कुछ विशेष पुद्गल परमाणु के पुंज प्रभावित हो जाते हैं। जिस प्रकार सूर्य अपने तेज व ज्योति से अन्य पदार्थों को तप्त व प्रकाशित करता है उसी प्रकार यह कर्त्ता अपनी सामर्थ्य से कुछ चेतना शक्ति भौतिक परमाणु या पदार्थों में प्रवेश करा देता है जिसके कारण इन भौतिक परमाणु या पदार्थों में चेतनता आ जाती है और ये चेतना युक्त परमाणु या पदार्थ मनुष्य पशु पक्षी

इस प्रकार अनेक बाधाएं उठती हैं जिनका अधिक विवेचन करना असंगत है।

आदि प्राणियों के रूप में दिखाई देते हैं।

वर्णानिक शैली में अन्वीक्षण करने पर इस विवेचन के निम्नलिखित दो तात्पर्य हो सकते हैं—

(क) भौतिक पदार्थों में चेतना शक्ति आ जाती है और ये चेतना शक्ति युक्त पदार्थ मनुष्य पशु आदि प्राणि-समाज के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। अथवा

(ख) भौतिक पदार्थों में चेतना शक्ति तो वास्तव में नहीं आती है केवल उसका आभास पड़ता है। इस आभास के कारण ही, हाड़-मांस आदि के बने हुए मनुष्य के शरीर में चेतनता प्रतीत होती है। जब एक-से हाड़ मांस के बने हुए शरीरों पर उस दिव्य चेतनामय कर्ता का आभास पड़ता है तो यह आभास प्रत्येक शरीर पर एक-सा ही होना चाहिए फिर इन शरीरधारी मनुष्यों में इतना अन्तर क्यों? इनमें भिन्न भिन्न प्रकार का ज्ञान एवं भावना क्यों? इनके कार्य एक दूसरे में भिन्न और कहीं कहीं विपरीत क्यों? इन बातों का कोई सन्तोषप्रद उत्तर उपर्युक्त बात मानने में नहीं मिलता है। इसके अतिरिक्त वास्तव में आभास का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इसका अर्थ यह होता है कि वास्तव में मनुष्य में ज्ञान आनन्द आदि कोई गुण नहीं हैं। ये गुण मनुष्य में बुद्धि भ्रम के कारण ही दिखाई देते हैं। यह परिणाम पूर्व में निश्चित किये हुए आत्म स्वरूप के बिल्कुल विपरीत है इसलिए बुद्धि को अग्राह्य है।

यदि पहला तात्पर्य कहा जाय कि 'भौतिक पदार्थ में चेतनाशक्ति आ जाती है' तो यह भी पूर्व निश्चित सिद्धान्त— कोई वस्तु अपने स्वभाव के विपरीत गुण को धारण नहीं कर सकती —के विरुद्ध है। जैसे उष्ण स्वरूप अग्नि अपने स्वभाव के विपरीत शीतलता को धारण नहीं कर सकती, उसी प्रकार जड़ अचेतन स्वरूप भौतिक पदार्थ ज्ञान आनन्दमय चेतन्य स्वरूप के धारण करने में असमर्थ हैं।

इसके अतिरिक्त उस सर्वज्ञ कर्ता के अखंड चेतन स्वरूप में से कोई अंश पृथक नहीं हो सकता क्योंकि चेतनाशक्ति अखंड है। यदि चेतनाशक्ति में से कुछ अंश का पृथक होना मान लिया जाय तो इसका परिणाम यह होगा कि उस सर्वज्ञ कर्ता की चेतनाशक्ति में से अंश धीरे धीरे पृथक होने

जायगा और एक समय ऐसा आ जायगा कि स्वयं सर्वज्ञ कर्त्ता चेतनाशक्ति से विहीन हो जायगा। इसलिए यह तात्पर्य भी बुद्धि को अग्राह्य है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यह पक्ष सर्वज्ञ कर्त्ता का प्रतिबिम्ब कुछ पदार्थों पर पड़ता है जिससे प्रभावित होकर वे पदार्थ मनुष्य आदि प्राणियों का रूप धारण कर लेते हैं, बुद्धि विरुद्ध और मानने के अयोग्य है।

यदि यह कहा जाय कि एक दिव्य आत्मिक शक्ति का पुंज सर्वज्ञ कर्त्ता से पृथक् पहिले ही से विद्यमान है, अनन्त सामर्थ्यवान कर्त्ता इस पुंज में से प्राणी-समाज की रचना करता है। ऐसी दशा में कर्त्ता के साथ-साथ प्रत्येक प्राणी का अस्तित्व पहले से ही मान लिया जाता है और यह कर्त्ता इन प्राणियों का बनानेवाला नहीं रहता वरन् उस सर्वज्ञ सामर्थ्यवान व्यक्ति का कार्य नियंत्रण व प्रबन्ध करने मात्र रह जाता है।[1]

इसके अतिरिक्त स्वाभाविक ही यह प्रश्न उठता है कि दिव्य आत्मिक शक्ति का यह पुंज अखंड द्रव्य है या बालू के परमाणु-सदृश पृथक्-पृथक् अंशों का बना हुआ है। यदि यह दिव्य आत्मिक शक्ति का पुंज एक अखंड द्रव्य है तो इसमें से कोई भी अंश पृथक् नहीं किया जा सकता। बिना किसी अंश के पृथक् हुए किसी भी प्राणी की रचना नहीं की जा सकती।

यदि दिव्य आत्मिक शक्ति का यह पुंज बालू सदृश, पृथक्-पृथक् अंशों का बना हुआ है और एक एक अंश एक एक प्राणी का रूप धारण कर लेता है तो क्या ये सब अंश एक-से होंगे या इनमें विभिन्नता होगी। यदि ये सब अंश एक-से हैं तो इनके धारण करनेवाले प्राणी भी एक ही सदृश होने चाहिए। यदि कर्त्ता ने बिना किसी कारण इन प्राणियों में अन्तर कर दिया है तो कर्त्ता में स्वेच्छाचारिता, अन्याय, अविवेक आदि अनेक दोषों का आरोप होता है। ऐसे अनेक अवगुणों से युक्त व्यक्ति का सर्वज्ञ कर्त्ता मानना बुद्धि के विरुद्ध है।

यदि ये अंश पहले ही से विभिन्न हैं तो इस विभिन्नता का कारण क्या है? क्या यह विभिन्नता पूर्व-संस्कारों के कारण है? यदि ये विभि

[1] इसपर विचार 'क्या कोई कर्मफल दाता है' नौवें अध्याय में किया

नता पूर्व संस्कारों के कारण है तो इसका विचार उपरोक्त एक साथ उत्पन्न बालकों की परस्पर विभिन्नता के दूसरे सम्भावित कारण में किया जायगा।

अन्य शक्ति को कर्त्ता मानने में तीसरी बाधा यह आती है कि कोई कर्त्ता इन्द्रियगोचर नहीं है इसलिए उस कर्त्ता को अदृश्य एवं अमूर्तिक मानना होगा। यह जानने की उत्कंठा स्वयमेव उत्पन्न होती है कि अमूर्तिक कर्त्ता किस प्रकार प्राणिसमाज की रचना करता है? क्या वह कर्त्ता कारीगर की भांति सृष्टि रचना का कार्य करता है? अथवा उसकी आज्ञा या संकल्प के होते ही समस्त प्राणि समाज की रचना हो जाती है?

यदि यह कहा जाय कि वह कर्त्ता अपने अदृश्य हाथों से, कारीगर की भांति संसार के प्राणियों की रचना करता है तो उस कर्त्ता को अपने आपको असंख्य अदृश्य हस्तों में परिणत करना होगा क्योंकि यह जगत अनेक प्रकार के अगणित प्राणियों से भरा पड़ा है और इस जगत में प्रति क्षण असंख्यात प्राणियों की उत्पत्ति व विनाश होता रहता है। उस जगत कर्त्ता का अदृश्य हस्तमय हो जाना हृदय को अग्राह्य प्रतीत होता है। दूसरी बात भी—कर्त्ता की आज्ञा व संकल्प होते ही संसार के समस्त प्राणियों का निर्माण हो जाता है और भिन्न भिन्न असंख्यात जीवों की उत्पत्ति व विनाश के रूप में प्राणि-समाज में परिवर्तन होता रहता है—ठीक नहीं मालूम होती क्योंकि कर्त्ता की आज्ञा (या संकल्प) व प्राणि समाज के निर्माण में कारण कार्य की शृंखला का उचित हृदयग्राह्य सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है।

उपरोक्त बाधाओं के अतिरिक्त और भी कितनी ही बाधाएं प्राणि समाज का रचयिता किसी कर्त्ता को मानने में आती हैं। इन आपत्तियों के कारण यही मानना पड़ता है कि प्राणि-समाज का निर्माता कोई कर्त्ता नहीं है। इसलिए उपरोक्त बालकों में विभिन्नता का कारण दूसरा सम्भावित कारण ही मानना पड़ेगा अर्थात् इन बालकों के शरीर के निर्माण, मनोवृत्ति आदि में विभिन्नता का कारण उनके विभिन्न पूर्व संस्कार हैं। अतः इस दूसरे सम्भावित कारण—पूर्व विभिन्न संस्कार—की परीक्षा भी समुचित प्रकार करनी होगी।

३—पुनर्जन्म

यह पहले ही निर्णय किया जा चुका है कि नवजीवन से समस्त जीवों का स्वरूप एक-सा ही है। अतएव यह मानना होगा कि इन बालकों में विभिन्नता का कारण उनके पूर्व संस्कार अथवा कर्मफल[1] की विभिन्नता ही है। पूर्व संस्कार (कर्मफल) में विभिन्नता उसी समय हो सकती है जब कि इन दोनों बालकों की आत्माएं इस मनुष्य जन्म से पूर्व मनुष्य पशु आदि किसी अन्य योनि में रही हों और उस पूर्व-योनि में भी भिन्न भिन्न प्रकार के कर्म किये हों। भिन्न भिन्न प्रकार के कर्म किये बिना पूर्व-संस्कारों में भिन्नता नहीं आ सकती है। इसलिए यह मानना ही पड़ता है कि इन बालकों की आत्माएं इस मनुष्य जन्म से पूर्व अन्य योनि में रही हैं और उस योनि में इन बालकों की आत्माओं ने भिन्न भिन्न प्रकार के कर्म किये हैं, जिनके कारण वर्तमान पर्याय में एक-सी परिस्थिति होते हुए भी, इन बालकों में अन्तर है।

अब प्रश्न उठता है कि इन बालकों की आत्माओं ने पहली योनि में भिन्न भिन्न प्रकार के कर्म क्यों किये थे? यदि उनकी आत्माएं पहली योनि में, सर्वथा एक-सी थीं अर्थात् उनके ज्ञान का विकास मनोवृत्ति रहन-सहन वायपद्धति परिस्थिति आदि सब बातें एक सी थीं तो उन्हें एक-से ही कार्य करने चाहिए थे। इनके कार्यों में अन्तर होने का कोई हेतु दिखाई नहीं देता। इसलिए यह मानना पड़ता है कि इस मनुष्य-योनि से पूर्व भी, इन बालकों की आत्माएं सर्वथा एक-सी नहीं थीं। इनकी मनोवृत्ति ज्ञान व शरीर की स्थिति वायमानी परिस्थिति आदि में विभिन्नता थी। पूर्व योनि में विभिन्नता का कारण उस योनि से पूर्व के संस्कार मानने होंगे। पूर्व-योनि से पूर्व के संस्कार यह बतलाते हैं कि इन दोनों बालकों की आत्माएं पूर्व-योनि से भी पूर्व अन्य किसी दूसरी योनि में अवश्य रही हैं और उस पूर्व योनि में भिन्न भिन्न प्रकार के कर्म करने के कारण ही

---

[1] किसी जीव द्वारा किये कर्म के फलस्वरूप जो प्रभाव उस जीव पर पड़ता है उसको संस्कार कहा जाता है। अतएव कर्मफल व संस्कार पर्याय वाची शब्द हैं।

८

कर्म-सिद्धान्त

१—क्या कोई कर्म फलदाता है ?

जीव के सम्बन्ध में उपयुक्त ज्ञान हो जाने पर, यह जानने की स्वाभाविक उत्कंठा होती है कि प्राणी जो कर्म करता है और जिनके अनुसार उस प्राणी में कुछ संस्कार पड जाते हैं इन संस्कारों का क्या स्वरूप है ? ये संस्कार कहां पर रहते हैं ? किस प्रकार पड़ते हैं ? इनके अनुसार जीव, एक योनि से दूसरी योनि में कैसे जाता है ? जीव को उसके पूर्व कर्मों का फल कैसे मिलता है ? इन प्रश्नों के उत्तर निम्न दो प्रकार से दिये जा सकते हैं—

(क) जैसे कुम्हार मिट्टी से, घड़े को बनाता है या घडी का निर्माता भिन्न भिन्न पुर्जों को एकत्रित करके, उपयुक्त स्थानों में जोडकर, घडी को तयार कर देता है उसी प्रकार एक विशेष चेतन शक्ति (ईश्वर) मनुष्य को उसके पूर्व-कर्मानुसार फल देती है एक योनि से दूसरी योनि में ले जाती है माता के गर्भ से लगाकर यौवनावस्था-पर्यन्त पोषण करके शरीर का निर्माण करती है विविध प्रकार के ऐश्वर्य की सामग्री जुटाती है या भोजन वस्त्र विहीन दशा में रखती है ज्ञान के विकास व भावना में विभिन्नता उत्पन्न करती है। सारांश में मनुष्य-जीवन में जो अनेक प्रकार की सुख दुःख की घटनाएं होती रहती हैं उन समस्त घटनाओं व कार्यों को उसके पूर्व कर्मों के फलानुसार वह विशेष चेतनशक्ति करती रहती है।

(ख) मनुष्य जो कर्म करता है उन कर्मों का फल देनेवाली एक योनि से दूसरी योनि में ले जानेवाली कोई अन्य विशेष चेतनशक्ति (ईश्वर) नहीं है। संसार के अनेक पदार्थों की अवस्थाओं में निरंतर परिवर्तन होता रहता है परन्तु उन अवस्थाओं में परिवर्तन करनेवाला कोई चेतन व्यक्ति नहीं होता उनमें परिवर्तन, स्वयं ही प्राकृतिक नियमों के

अनमार होता रहता है। जसे जल का धूप की उष्णता पाकर भाप बनकर आकाश म उड जाना भाप का आकाश के शीत भाग म पहुचकर छोटे छोटे जलबिन्दुओ क रूप म परिवर्तित होकर मेघ के रूप म दिखलाई देना फिर मेघ क भारी होने पर वर्षा के रूप मे पृथ्वी पर गिरना बिजली का चमकना गडगडाहट का घोर शब्द होना आदि अनेक बात है जिनका सचालक कोई चेतन व्यक्ति नही है। ये सब घटनाए अपरिवर्तित प्राकृतिक नियमों के अनुसार स्वत होते रहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य को उसके पूर कृत कर्मों का फल देने वाला एव योनि म दूसरी योनि म ल जानेवाला माता के गर्भ म भ्रूण-अवस्था स लगाकर यौवन अवस्था-पयन्त शरीर की वृद्धि व निर्माण करनेवाला एव जीवन की अन्य बातें निश्चित करनेवाला कोई अन्य विशेष चेतन व्यक्ति नियन्ता नहीं है वरन् यह सब कार्य कुछ गूढ नियमो के अनुसार स्वय ही हो रहा है।

उपयुक्त प्रथम सिद्धान्त पर—क्या मनुष्य का कर्म फलदाता कोई विशेष चेतन व्यक्ति है—पहले विचार करना उचित होगा। प्राणियो को उनके किये हुए कर्मों के अनुसार फल देने के कार्य की तुलना न्यायाधीश के कार्य से की जा सकती है। ससार म अनन्तानन्त प्राणी हैं। उन सबको उनके कर्मानुसार फल देने के लिए आवश्यक है कि वह समस्त प्राणि-समाज के समस्त कार्यों की पूरी पूरी सूचना एव उन कार्यों के फल देने की पूरी पूरी सामर्थ्य रखे। इसलिए कर्म फलदाता को सर्वज्ञ एव अनन्त सामर्थ्यवान मानना होगा। किसी विशेष चेतन व्यक्ति को सर्वज्ञ अनन्त शक्ति युक्त कर्म फलदाता मानने में कितनी ही आपत्तियां उपस्थित होती हैं जिनमे स कुछ नीचे दी जाती हैं—

१ ऐसा विशेष चेतन व्यक्ति दृष्टिगोचर नही होता इसलिए हम *व्यक्ति को अदृश्य अमूर्तिक मानना होगा। यह बुद्धि म नही आता कि वह* अमूर्तिक व्यक्ति किस प्रकार मनुष्य-से मूर्तिक पदार्थ को बनाता होगा किस प्रकार माता के गर्भ म भ्रूण स लगाकर यौवनावस्था-पयन्त पोषित करता होगा धन धान्य भूषणादि मूर्तिक पदार्थों का सयोग कराता होगा कसे मनुष्य की भावना को शुभ व अशुभ प्रवृत्ति की ओर प्रेरित करता होगा कसे मनुष्य की ज्ञान शक्ति का विकास करता होगा, आदि—

२ उस विशेष चेतन व्यक्ति का कार्य, न्यायाधीश-तुल्य बतलाया जाता है। यह देखना है कि मनुष्य के दैनिक कार्यों पर उस चेतन व्यक्ति कर्म-फलदाता के न्याय कार्य की वहां तक छाप है। न्यायाधीश का कर्तव्य है कि अपराधी को उसके अपराध अनुसार, उचित दंड दे। दंड देने के जितने ही अभिप्राय होते हैं परन्तु उन सब अभिप्रायों का समावेश निम्न लिखित दो अभिप्रायों में हो जाता है—

(क) अपराधी को उसके अपराध का, ऐसा कठोर दंड दिया जाय कि जिससे वह तथा अन्य व्यक्ति डर जाय और फिर उस प्रकार के अपराध करने का साहस न करें।

(ख) अपराधी को उसके अपराध का दंड, इस प्रकार दिया जाय कि जिससे वह अपराधी सुधर जाय उसकी मनोवृत्ति में ऐसा परिवर्तन हो जाय कि वह फिर अपराध करने की ओर प्रवृत्त न हो।

प्रथम अभिप्राय की समीक्षा निम्न प्रकार की जा सकती है—

मनुष्यों को उनके पूर्व-कृत कर्मों का फल इस प्रकार मिलता है या नहीं कि जिससे वे स्वयं तथा मानव समाज ऐसा भयभीत हो जाय कि वह भविष्य में पाप कार्य न करे। जब कोई मनुष्य चोरी करता है तो उसपर राज्य की ओर से अभियोग लगाया जाता है। यह प्रमाणित होने पर कि उस व्यक्ति ने चोरी की है, न्यायाधीश उसको कारागार जुर्माना आदि का उपयुक्त दंड देता है। वह अपराधी व्यक्ति तथा अन्य मनुष्य यह जान जाते हैं कि उस व्यक्ति ने चोरी की थी, इसलिए उसको दंड मिला। चोरी का अपराध एवं उसके फलस्वरूप दंड का ज्ञान होने से वह व्यक्ति एवं साधारण जन समाज डर जाता है और चोरी करने का साहस नहीं करता है।

यदि किसी देश का शासक या न्यायाधीश किसी व्यक्ति को पकड़वा कर कारागार में डाल दे और उसपर न तो अभियोग लगाये न यही प्रगट करे कि उसने क्या अपराध किया है ऐसी दशा में जनता उस व्यक्ति को निर्दोष एवं उस शासक व न्यायाधीश को अन्यायी स्वेच्छाचारी समझेगी। अपराध एवं उसके फलस्वरूप दंड का ज्ञान न होने से, जनता कदापि उस अपराध के करने से नहीं डरेगी। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति मनुष्य योनि

म जन्म लेता है और जन्म से ही नेत्रहीन अपंग आदि दूषित शरीर धारण करता है तो उस व्यक्ति उसके सम्बन्धी एवं उसके देशवासियों को यह ज्ञात नहीं होता है कि उस व्यक्ति के जीव ने पूर्व जन्म में, अमुक पाप-कर्म किया था, जिसके फलस्वरूप उसका इस जन्म में यह दूषित शरीर मिला है। इसी प्रकार जब किसी मनुष्य के शरीर में कुष्ठ आदि रोग हो जाता है तो उस व्यक्ति या अन्य मनुष्यों को यह ज्ञात नहीं होता है कि उसने अमुक-अमुक पाप-कर्म पूर्व या इस जन्म में किये हैं जिनके फलस्वरूप उसके शरीर में कुष्ठ आदि रोग हुआ है।

इस मानव-समाज के किसी व्यक्ति को भी यह ज्ञात नहीं होता है कि इस मनुष्य-योनि में अंगहीनता आदि दोष जो जन्म से ही कितने मनुष्यों में पाये जाते हैं या कुष्ठ-आदि रोग जो बाद को हो जाते हैं उन दोषों का उन मनुष्यों के पूर्व-कृत कर्मों से क्या सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध का ज्ञान हुए बिना मानव-समाज उन अज्ञात पापकर्मों से किस प्रकार डर सकता है और वह उन पाप-कर्मों को फिर क्यों न करेगा? इससे स्पष्ट है कि दंड देने का प्रथम अभिप्राय—मनुष्य को उसके पाप-कर्म का ऐसा कठोर दंड दिया जाय कि जिससे वह स्वयं तथा मानव-समाज ऐसा भयभीत हो जाय कि डरकर फिर उस पाप-कर्म को न करे—मनुष्य के दैनिक कार्यों में नहीं पाया जाता।

इसके अतिरिक्त कभी-कभी यहाँ तक देखा जाता है कि वे मनुष्य जो निर्बलों पर अत्याचार व दूसरों की धन-सम्पत्ति का अपहरण करते हैं स्वयं विपुल धन-सम्पत्ति के स्वामी बन जाते हैं संसार में अनेक प्रकार के सुख व ऐश्वर्य को भोगते हैं, जाति में भी आदर पाते हैं। इतिहास के पृष्ठ ऐसे सैकड़ों पुरुषों के जीवन चरित्रों से रंगे पड़े हैं जिनका प्रारम्भिक जीवन डाका डालने एवं दूसरों की धन-सम्पत्ति को बलपूर्वक हरण करने में व्यतीत हुआ है, परन्तु अनुकूल परिस्थिति के प्राप्त होते ही बड़े-बड़े उच्च पदों पर पहुँच गए हैं।[1] इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्राणियों को उनके पूर्व कृत

[1] इतिहास के बहुत से उदाहरणों में से एक प्रसिद्ध उदाहरण दिया जाता है—

अमीरखाँ जो १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पिंडारियों (जिनका काम

रमों के फलस्वरूप ऐसे दंड में उसी विशेष चेतन व्यक्ति का कम फल होता, भी इरादे का उपयुक्त अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता।

अब यह स्पष्ट है कि ऐसे दंड के दूसरे अभिप्राय का—अपराधी को दंड इस प्रकार दिया जाय कि जिसमें उसकी मनोवृत्ति ऐसी बदल जाय कि वह पाप कर्म की ओर प्रवृत्त न हो—प्रभाव कहाँ तक संसार के मानव समाज के व्यवहार में पाया जाता है। यदि सुधार करने का उद्देश्य है तो उस न्यायाधीश को उस विशेष चेतन व्यक्ति को चाहिए कि प्राणियों को ऐसी परिस्थिति इस योनि जाति परिवार माता पिता के यहाँ उत्पन्न करे कि जहाँ उत्पन्न होने से उसे उन्नति करने का पूरा-पूरा सुभीता मिले। बहुत से बालक ऐसे देश जाति परिवार तथा परिस्थिति में उत्पन्न होते हैं कि जहाँ चोरी करना, लूटना, डाका डालना, मदिरा पीना, मांस खाना आदि कुत्सित कार्य अच्छे समझे जाते हैं और उनकी जीविका ऐसे ही कामों पर निर्भर है। भील मीणे आदि कितनी ही जातियाँ हैं जिनमें लूटना, चोरी करना शिकार खेलना आदि हीन कार्य अच्छे समझे जाते हैं। ये जातियाँ मनुष्य के प्राण ले लेना भी बुरा नहीं समझती हैं। कुछ जातियों की नैतिक अवस्था इतनी हीन है कि उनमें चोरी करना आदि कुत्सित कार्य केवल प्रचलित ही नहीं वरन् प्रशंसा की दृष्टि से देखे जाते हैं। इन जातियों में कुमारों के विवाह उस समय तक नहीं होते हैं जब तक कि वे उपरोक्त अपराधों में जेल की सजा काट न आये हों। खटीक कसाई आदि कितनी ही जातियाँ हैं जिनमें गाय बैल बकरे आदि पशुओं की हत्या का व्यापार होता है। कुछ देश इतने ठंडे व बर्फ से ढके रहते हैं कि वहाँ किसी प्रकार की कृषि हो ही नहीं सकती है। वहाँ के निवासियों को मछली आदि जलचरों के शिकार पर ही निर्भर रहना पड़ता है। कन्या आदि कुछ ऐसी बस्तियाँ हैं कि जहाँ की परिस्थिति कन्याओं को व्यभिचार रूप वेश्यावृत्ति के लिए विवश कर देती है।

लूटना डाका डालना था) का सरदार था टोंक रियासत का नवाब बन गया और उसके वंशज भारत में स्वराज्य स्थापित होने तक राज्य करते रहे और आज भी नवाब कहलाते हैं।

कुछ देश, जाति, परिवार आदि की ऐसी परिस्थिति है कि जहां नव जात शिशु धीरे धीरे अपने कुटुम्ब माता पिता भाई-बहिन पड़ोसी व ग्रामवासियों के कार्यों को देखने लगते तथा उनका अनुकरण करते-करते जाति के समस्त कुत्सित संस्कारों को ग्रहण कर लेता है। बड़ा होने पर सहज ही में जाति में प्रचलित मद्यपान, चोरी आदि कुत्सित कार्य करने लगता है। ये विचार कभी भी उत्पन्न नहीं होते हैं कि चोरी आदि कार्य अनुचित हैं। यह बुद्धि में नहीं आता है कि सर्वज्ञ कर्म फलदाता ने इन भील भानु आदि जातियों व परिवारों में उत्पन्न करके बालकों का क्या सुधार किया। इन जातियों के कलुषित वातावरण में उत्पन्न होकर—जहां जन्म लेने के कारण ही इन बालकों की प्रवृत्ति मद्यपान चोरी आदि पाप कार्यों में होने लगती है—इनका अहित हुआ है। उस विशेष चेतन व्यक्ति को ऐसे देश जाति परिवार एवं परिस्थिति में बालकों को उत्पन्न करना चाहिए था कि जहां जन्म लेने से उन्हें अपनी आन्तरिक शक्तियों के विकास, ज्ञान उपार्जन एवं शुभ भावनाओं के प्रसार का पूरा-पूरा अवसर मिलता। इससे स्पष्ट है कि एकदम कर्म-फलदाता का दंड देने का अभिप्राय सुधारना कदापि नहीं हो सकता।

इस प्रकार उस विशेष चेतन व्यक्ति का कार्य न्यायाधीश-तुल्य कदापि नहीं है क्योंकि दंड देने के दोनों अभिप्रायों की—दंड को देखकर अपराधी एवं जनता डर जाय, या दंड को पाकर अपराधी सुधर जाय—झलक मानव-समाज के व्यवहार में तनिक भी दिखलाई नहीं देती है।

३ जो दंड देने की सामर्थ्य रखता है उसमें अपराध रोकने की भी शक्ति होनी चाहिए। यदि किसी शासक में यह सामर्थ्य है कि डाकुओं के दल को उसके अपराध के दंड-स्वरूप जेल में बन्द अथवा प्राणदण्ड दे सकता है तो उस शासक में यह भी शक्ति होनी है कि यदि उसको यह ज्ञात हो जाय कि डाकुओं का दल अमुक गृह में अमुक समय पर डाका डालकर धन अपहरण एवं गृहवासियों की हत्या करेगा तो डाका डालने से पहले ही, उस डाकुओं के दल को पुलिस अथवा सेना के द्वारा डाका डालने का घोर अपराध करने से रोक देगा। कर्म फलदाता ईश्वर तो सर्वशक्तिमान, दयालु सर्वज्ञ अन्तर्यामी है, जानता है कि कौन अपराध करेगा।

चाहिए कि अपराध करनेवाले की भावना बदल दे अथवा उसके मार्ग में ऐसा अड़चन उपस्थित कर दे कि जिससे वह अपराध करने में सफल न हो सके।

यदि वह अपराध करनेवाले के इरादे को जानता है और अपराध रोकने की सामर्थ्य भी रखता है परन्तु रोकता नहीं है अपराध करने देता है और फिर अपराध के फलस्वरूप दंड देता है तो उसको दयालु व न्यायी नहीं कहा जा सकता। उसको स्वेच्छाचारी, कर्तव्यविमुख कहना होगा।

४ संसार में अनन्त जीव हैं। प्रत्येक जीव मन वचन व शरीर द्वारा प्रति क्षण कुछ-न कुछ कार्य करता रहता है। क्षण-क्षण की क्रियाओं का इतिहास लिखना एवं उनका फल देना यदि असम्भव नहीं तो अत्यन्त दुष्कर है। जब एक जीव के क्षण क्षण के कार्य का ब्योरा रखना एवं उसका फल देना इतना कठिन है तो संसार के अनन्त जीवों की क्षण-क्षण क्रियाओं का ब्योरा रखना एवं उनका फल देना उस विशेष चेतन व्यक्ति के लिए कैसे सम्भव होगा? इसके अतिरिक्त संसार के अनन्त जीवों के क्षण क्षण कर्मों के फल देने में लगे रहने से उस विशेष चेतन व्यक्ति का चित्त कितना चिन्तित व व्यथित होगा और वह कैसे शान्ति आनन्द-स्वरूप में मग्न रह सकेगा? इन प्रश्नों का कोई सन्तोषप्रद उत्तर समझ में नहीं आता।

उपर्युक्त कारणों से उन सज्जनों को—जिनकी यह धारणा है कि कोई विशेष चेतन व्यक्ति कर्त्ता या ईश्वर जीवों को कर्म फल देता है—इस बात पर आना पड़ता कि उस विशेष चेतन व्यक्ति ने पहले ही से कुछ नियम इस जगत के लिए बना रखे हैं। उन नियमों के अनुसार प्रत्येक जीव को उसका किया हुआ कर्मों का फल स्वतः मिलता रहता है। कर्मफल देने में वह सर्वज्ञ चेतन व्यक्ति न अपने ज्ञान का प्रयोग में लाता है और न उससे किंचित भी चिन्तित व व्यथित होता है। वह तो संसार के समस्त पदार्थ एवं उनकी अवस्थाओं को पूर्णतया जानता हुआ सदैव शान्ति व आनन्द में मग्न रहता है।

यह पहले ही निर्णय हो चुका है कि जीव अनादि काल से है और भिन्न भिन्न योनियों में कर्म करता हुआ भ्रमण कर रहा है। जब जीव एवं

उसका कर्म करते रहना अनादि काल से चला आ रहा है तो उन नियमों का अस्तित्व—जिनके अनुसार जीव को कर्म का फल मिलता है—अनादि काल से ही मानना होगा। इस प्रकार इन नियमों का अस्तित्व अनादि काल से ही निश्चित होता है। ऐसी दशा में इन नियमों के बनने का न कोई समय ही निश्चित हो सकता है और न इनका बनानेवाला ही हो सकता है। यदि कोई सर्वज्ञ अनन्त सामर्थ्यवान व्यक्ति है तो वह केवल द्रष्टा ज्ञाता ही हो सकता है। कर्मफलदाता नहीं हो सकता। इस विवेचन से यही निश्चित होता है कि प्राणियों को उनके किये हुए कर्मों का फल कुछ गूढ़ नियमों के अनुसार स्वतः मिल रहा है और इन्हीं गूढ़ नियमों के अनुसार प्राणी एक योनि छोड़कर दूसरी योनि धारण करता है।

२—सैद्धान्तिक विवेचन

यह निर्णय हो जाने पर कि प्राणियों को उनके कर्मों का फल किसी अन्य विशेष चेतन शक्ति व्यक्ति नियन्ता या ईश्वर के द्वारा नहीं मिलता है वरन् कुछ गूढ़ नियमों के अनुसार स्वतः मिल रहा है उन गूढ़ नियमों का पता लगाना अत्यन्त आवश्यक है। इनके ज्ञात हो जाने पर संसार का रहस्य एवं मानव जीवन की अनेक समस्याओं का समाधान कितने ही अंशों में हो जायगा।

प्रायः मनुष्यों को उनके कर्मों का फल उनकी इच्छानुसार नहीं प्रत्युत इच्छा के विरुद्ध ही मिलता है। जैसे कोई व्यक्ति स्वाद इन्द्रिय के वशीभूत होकर अस्वास्थ्यकर भोजन करता है तो उसके शरीर में व्याधि उत्पन्न हो जाती है। वह व्यक्ति उस व्याधि का तनिक भी इच्छुक नहीं है। उसकी इच्छा तो यही है कि उसके शरीर में कोई व्याधि उत्पन्न न हो परन्तु स्वास्थ्य विरुद्ध हानिप्रद भोजन करने का फल व्याधि के रूप में उसको अपनी इच्छा के विरुद्ध भोगना ही पड़ता है। इसी प्रकार मनुष्य को अपने कर्मों का फल अपनी इच्छा के न होते हुए भी भोगना पड़ता है। इससे प्रगट होता है कि कर्मफल देने वाले नियम एक प्रकार की शक्ति के रूप में हैं जो मनुष्य की इच्छा व मानवीय (आत्मिक अथवा शारीरिक) शक्ति के विरुद्ध ... कार्य करते रहते हैं। यदि ये कर्मफल देने

पर केन्द्रित रहकर कैसे परस्पर विरोध रूप कार्य करेगा ? इससे यही अनुमान होता है कि यह कर्मफल देनेवाली शक्ति शरीर से बाहर किसी स्थान पर केन्द्रित नहीं है वरन् प्रत्येक प्राणी के भीतर स्वयं विद्यमान है। जिस प्रकार जीव शक्ति रूप से समान होते हुए भी भिन्न भिन्न हैं उसी प्रकार यह कर्मफल देनेवाली शक्ति एक-सी होते हुए भी प्रत्येक प्राणी में भिन्न भिन्न है।

जीवों की शरीर-वृद्धि पर विचार करने से भी यही निश्चित होता है कि कर्मफल देनेवाली शक्ति स्वयं मनुष्य के भीतर विद्यमान है। जो शक्तियाँ बाहर से कार्य करती हैं वे विकास के रूप में वृद्धि नहीं कर सकतीं। वायु में गमन क्रिया होने से, एक प्रकार की शक्ति है जो बालू को उठाकर उसका ढेर लगा देती है। यह वायु की शक्ति पहले थोड़ी बालू का स्तर (तह) लगाती है फिर उसके ऊपर बालू का दूसरा स्तर रखती है। इस प्रकार बालू का स्तर एक के ऊपर दूसरा रखते रखते ढेर हो जाता है। जलप्रवाह के वेग में एक प्रकार की शक्ति होती है। प्रायः देखा जाता है कि जल प्रवाह सविस्तरण मृत्तिका का एक ऊँचा विस्तृत चौरस स्तर लगा देता है। जल प्रवाह मृत्तिका को बहाकर लाता है अपने प्रवाह के वेग से एक ओर किनारे पर मृत्तिका का विस्तरित परन्तु पतला स्तर लगा देता है। उसी नदी का दूसरा प्रवाह उसी ओर किनारे पर पहिली मृत्तिका के स्तर के ऊपर मृत्तिका का दूसरा स्तर लगा देता है। धीरे धीरे कितने ही एक के ऊपर दूसरे स्तर मिलकर एक ऊँचे विस्तरित चौरस स्तर का रूप धारण कर लेते हैं। वायु गमन जल प्रवाह-वेग के सदृश जितनी भी बाह्य शक्तियाँ होती हैं यदि वे किसी वस्तु को बनाती हैं तो पहले उस वस्तु के थोड़े से अंश को एकत्रित करती हैं फिर धीरे धीरे उस वस्तु के अन्य अंशों को उसी पहले स्थान पर संचय करके उस वस्तु का निर्माण करती हैं।

इसी प्रकार राज जब मकान बनाता है तो उसको एक के ऊपर दूसरी ईंट रखनी होती है। कारीगर को किसी मशीन के बनाने में पुर्जे ऊपर नीचे रखने होते हैं। इस प्रकार जितनी भी बाह्य चेतनशक्तियाँ कार्य करती हैं वे बाहर से ऊपर-नीचे या बगल में रखकर वस्तु का निर्माण करती हैं। ये बाह्य शक्तियाँ, अन्दर से विकास रूप में वृद्धि करते हुए किसी वस्तु के

निमाण नही करती हैं।

मनुष्य शरीर की वृद्धि पर विचार कीजिये। माता के गर्भाशय म, पिता का वीय व माता का रज परस्पर सम्मिश्रण होने पर, कलल की अवस्था म परिवर्तित हो जाता है। यह कलल, वृद्धि करता-करता भ्रूण दशा को प्राप्त होता है। नवमास पश्चात् यह भ्रूण माता के गभ स निकल कर खाट म शिशु का रूप धारण कर लेता है। शिशु धीरे धीरे वृद्धि करता हुआ बीस पच्चीस वष म नवयुवक बन जाता है। यह वृद्धि कलल के भीतर से होती है। कलल धीरे धीरे परन्तु लगातार अन्दर स चारो ओर को बढ़ता है भ्रूण की अवस्था धारण करके धीरे धीरे उसके भीतर से हस्त-पाद आदि इन्द्रियों का विकास होता है। भ्रूण वृद्धि करता-करता माता के गभ स निकलकर शिशु बन जाता है। विकास के रूप म, शिशु का प्रत्येक अग सब ओर को उचित ढग से वृद्धि करता हुआ नवयुवक का रूप धारण कर लेता है। कलल व शिशु की विकास रूप मे वृद्धि इस बात का बतलाती है कि वृद्धि करनेवाली शक्ति उसके भीतर विद्यमान है। यदि यह वृद्धि करनेवाली शक्ति कलल से बाहर किसी स्थान पर केंद्रित होती तो इस प्रकार विकास के रूप म यह वृद्धि कलल को नवयुवा अवस्था तक कदापि नहीं पहुचाती। इस अन्वीक्षण से इस परिणाम पर पहुचा जाता है कि कमफल देनेवाली शक्ति प्रत्येक प्राणी के अन्दर, स्वय विद्यमान है किसी बाह्य स्थान पर केंद्रित नहीं है।

यह ज्ञात हो जाने पर कि कमफल देनेवाली शक्ति मनुष्य के भीतर रहती है यह जानना शेष रह जाता है कि यह शक्ति मनुष्य के अन्दर किस स्थान विशेष पर, केंद्रित रहती है? इसका आधार क्या है? यह शक्ति मनुष्य के भीतर उसकी आत्मा अथवा भौतिक स्थूल या सूक्ष्म शरीर म केंद्रित है? कोई शक्ति बिना किसी आधार के विद्यमान नहीं रहती है। उष्णता विद्युत् आकषण प्रकाश आदि जितनी शक्तियां हैं उनके आधार प्राकृतिक स्थूल या सूक्ष्म पदाथ होते हैं। उन्हीं के सहारे, य शक्तियां एक स्थान स दूसरे स्थान तक पहुच जाती हैं। इसलिए इस कम फल देनेवाली शक्ति का भी कोई आधार मनुष्य के भीतर अवश्य होना चाहिए।

इस कर्मफल देनेवाली शक्ति का आधार मनुष्य के भीतर उसका आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा का स्वभाव ज्ञान व आनन्दमय है और कर्म-फल देनेवाली शक्ति का कार्य उस आत्मा के ज्ञान आनन्द आदि गुणों को आच्छादित व विकृत करता है जिसके कारण ज्ञान-स्वरूप आत्मा मनुष्य के भीतर अल्पज्ञानी बन जाता है एवं उसका शांति आनन्दमय स्वरूप विकृत होकर राग द्वेष आदि अनेक प्रकार की भावनाओं के रूप में प्रकटित होता है। इस भांति कर्म फल देनेवाली शक्ति का कार्य आत्मा के ज्ञान आनन्दमय स्वरूप का आच्छादित व विकृत करके अज्ञान व वासना युक्त बनाना है। अतः कर्म फल देनेवाली शक्ति का स्वभाव आत्मा के ज्ञान आनन्द-स्वरूप के नितान्त विपरीत एवं विरोधी है। यह पूर्व ही निश्चित किया जा चुका है कि कोई भी वस्तु शीत उष्णता के सदृश परस्पर विरोधी गुणों को एक ही साथ धारण नहीं कर सकती है। इसलिए आत्मा, अपने स्वरूप को विकृत एवं आच्छादित करनेवाली कर्म फल देनेवाली शक्ति का आधार नहीं बन सकता।

अतएव इस कर्म-फल देनेवाली शक्ति का आधार मनुष्य में आत्मा से विभिन्न शरीर आदि भौतिक पदार्थ को ही मानना होगा जैसे उष्णता विद्युत आदि शक्तियों का आधार प्राकृतिक पदार्थ हैं उसी प्रकार कर्म फल देनेवाली शक्ति का आधार भी प्राकृतिक पदार्थ ही हैं।

कर्म फल देनेवाली शक्ति के कारण जीव को उसके पूर्व-कर्मों का फल मिलता है। यही शक्ति जीव को शारीरिक मृत्यु होने के पश्चात एक योनि से दूसरी योनि में ले जाती है। यही शक्ति मनुष्य शरीर की निर्माण-सम्बन्धी अनेक व्यवस्थाएं एवं जीवन सम्बन्धी अनेक बातों को निर्धारित करती है। इस शक्ति के इन कार्यों से मानना पड़ता है कि यह शक्ति जीव के साथ प्रत्येक दशा में विद्यमान रहती है। जब जीव एक योनि से दूसरी योनि में जाता है अर्थात जब जीव एक योनि में धारण किये हुए भौतिक स्थूल शरीर को त्याग कर दूसरी योनि में अन्य भौतिक स्थूल शरीर को धारण करता है उस शरीर परिवर्तन के समय में भी, यह शक्ति उस आत्मा के साथ रहती है। यदि शरीर परिवर्तन के समय यह शक्ति आत्मा के साथ न रहे तो यह जीव एक योनि से दूसरी योनि

इसी सूक्ष्म या कार्माण शरीर को एक योनि से दूसरी योनि में ले जाने वाला, माता के गर्भ में सन्तान से भ्रूण, भ्रूण से शिशु, युवक व वृद्ध करने वाला शरीर-सम्बन्धी अन्य बातें निर्धारित करनेवाला, आत्मा की पूर्ण ज्ञान-शक्ति को आवृत करने वाला एवं अज्ञान बनानेवाला, आत्मा के शुद्ध आनन्द-स्वरूप को विकृत करके काम क्रोध आदि भावना में परिणत करनेवाला आदि मानना होगा।

यह मान लेने से कि मनुष्य द्वारा किये गए समस्त पूर्व कर्मों के फल देनेवाली शक्ति इस सूक्ष्म कार्माण शरीर में निहित है, यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य को जब उसके किये पूर्व कर्म का फल मिल जाता है तो उस कर्म से सम्बन्धित इस कार्माण शरीर के परमाणु कर्म फल देने की शक्ति से विहीन हो जाते हैं। कर्म शक्ति से विहीन होकर इन कर्म-परमाणुओं की दशा साधारण परमाणु सदृश हो जाती है। साधारण परमाणु सदृश हो जाने से इनका सम्बन्ध सूक्ष्म कार्माण शरीर से छूट जाता है एवं उससे पृथक हो जाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य जब नवीन कर्म करता है तो उस कर्म के अनुसार फल देनेवाली शक्ति-युक्त नवीन सूक्ष्म परमाणुओं में उत्पन्न हो जाती है और ये कर्म शक्ति युक्त परमाणु उस मनुष्य के पूर्व से विद्यमान सूक्ष्म कार्माण शरीर में प्रवेश करके सम्मिलित व सम्बन्धित हो जाते हैं।

उपर्युक्त बात को दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि जब दो *पदार्थों के परस्पर संघर्षण से उष्णता-शक्ति उत्पन्न हो जाती है तो कुछ समय तक स्थिर रहकर आकाश में लुप्त हो जाती है* या जब सिर के केशों में गन्धक का कंघा करने से कंघे में आकर्षण-शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण वह कंघा छोटे छोटे कागज के तन्तुओं को आकर्षित करने लगता है। यह शक्ति कुछ समय तक उस कंघे में रहती है और फिर नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति मन, वचन या शरीर से कोई कार्य करता है तो उसके समीपवर्ती चारों ओर के सूक्ष्म परमाणुओं में हलन चलन क्रिया उत्पन्न हो जाती है।[1] ये परमाणु आत्मा की

---

[1] विज्ञान के आविष्कार बेतार के तार, रेडियो आदि के कार्य में

और आकर्षित होते हैं उनमें उस व्यक्ति के कर्मानुसार फल देने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इन कर्म शक्ति युक्त परमाणुओं का एक क्षेत्रावगाह (एक भाग में रहनेवाला) सम्बन्ध आत्मा के साथ हो जाता है एवं ये कर्मशक्तियुक्त परमाणु पूर्व से विद्यमान सूक्ष्म शरीर में सम्मिलित हो जाते हैं। कुछ समय पश्चात जब ये कर्म-परमाणु कार्यान्वित होते हैं तो उनका प्रभाव उस व्यक्ति पर पड़ने लगता है उसकी मनोवृत्ति में अन्तर पड़ जाता है राग द्वेष काम क्रोध रूप भावना हो जाती है। ज्ञान शक्ति के विकास में परिवर्तन हो जाता है उसके शरीर की गति बदल जाती है बाह्य पदार्थों के संयोग होने से वह सुख या दुःख अनुभव करने लगता है। इस प्रकार उस व्यक्ति को, अपने पूर्व-कर्मों का फल मिलने लगता है। जब इन कर्म-परमाणुओं की कर्म शक्ति कार्य करते-करते समाप्त हो जाती है तो ये कर्म-परमाणु कर्मशक्तिविहीन हो जाते हैं एवं इनका सम्बन्ध आत्मा तथा सूक्ष्म कार्माणशरीर से छूट जाता है।

उपर्युक्त बातें जान लेने पर यह जानना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि प्राणियों के विचार, वचन या शरीर द्वारा कार्य करने में कौन-सी विशेषता है कि जिससे सूक्ष्म परमाणुओं में कर्म फल देनेवाली शक्ति उत्पन्न हो जाती है और जिससे ये कर्मशक्तियुक्त परमाणु आत्मा के साथ सम्बन्धित हो जाते हैं। इस विशेषता को जानने के लिए विचार, वचन या शरीर द्वारा किये हुए कार्य का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करना होगा। मनुष्य के कार्य को तीन अंगों में विभक्त किया जा सकता है—

१ हलन चलन मात्र क्रिया—जो प्रत्येक व्यक्ति के शारीरिक कार्य करने वचन बोलने या मस्तिष्क द्वारा विचारने पर शरीर के किसी भी भाग या सम्बन्धित सूक्ष्म तन्तुओं में हलन चलन क्रिया के रूप में होती है।

निर्विवाद सिद्ध है कि जब कोई कार्य करता है तो उसके समीपवर्ती वायुमंडल में हलन चलन क्रिया उत्पन्न हो जाती है और उससे उत्पन्न लहरें चारों ओर को बहुत दूर तक फैल जाती हैं। इन्हीं लहरों के पहुंचने से शब्द बिना तार के रेडियो द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंच जाता है।

२ विचारने जानने मात्र क्रिया—जो विचारने पर मस्तिष्क द्वारा होती है।

३ भावना मात्र क्रिया—राग-द्वेष आदि भावनाओं में से किसी एक या अधिक भावना का होना जो प्रायः प्रकट मानसिक चेष्टा वचन एवं शारीरिक क्रिया के साथ पाई जाती है।

१ मनुष्य का शरीर मुख व मस्तिष्क भौतिक पदार्थों का बना हुआ है। शरीर के समस्त अवयव भौतिक पदार्थों से ही उत्पन्न होते हैं अग्नि द्वारा भस्म किए जाने पर भौतिक पदार्थों में ही परिवर्तित हो जाते हैं। भौतिक पदार्थों में हलन-चलन परस्पर संघर्षण आदि होने से उष्णता विद्युत आदि शक्तियां[1] वायुमण्डल में लहरें आदि उत्पन्न होती हैं परन्तु उनसे कर्मफल देनेवाली शक्ति उत्पन्न होती हुई कभी दिखलाई नहीं देती। मनुष्य के शरीर मुख व मस्तिष्क (जो भौतिक पदार्थ के बने हैं) की केवल हलन चलन मात्र क्रिया से सूक्ष्म परमाणुओं में—जो प्रत्येक स्थान में भरे पड़े हैं—हलन-चलन तो अवश्य होता है परन्तु उससे कर्मशक्ति का उत्पन्न होना बुद्धि असंगत है।

२ विचारना जानना अनुभव करना—ये सब ज्ञान के रूपान्तर हैं। ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। यह पूर्व ही सिद्ध किया जा चुका है कि प्रत्येक व्यक्ति शक्ति रूप में सर्वज्ञ है। आत्मा की यह पूर्ण ज्ञान शक्ति कर्म परमाणुओं के समूह सूक्ष्म कार्माणशरीर से आच्छादित होकर, कितने ही अंशों में अव्यक्त हो गई है जिसके कारण मनुष्य अज्ञानी एवं अल्पज्ञ दिखाई देता है। आत्मस्वभाव होने के कारण ज्ञान से कोई भी कार्य आत्म स्वभाव के विपरीत सम्पादित नहीं हो सकता न कोई शक्ति ही उसके विरुद्ध उत्पन्न हो सकता है जैसे अग्नि का स्वभाव उष्ण होने के कारण

[1] विज्ञान की पुस्तकों से यह भलीभांति जाना जा सकता है कि भौतिक पदार्थों के हलन चलन से किस प्रकार उष्णता डायनमो आदि यन्त्रों के द्वारा विद्युत आदि शक्ति उत्पन्न की जाती है कैसे वायुमण्डल में लहरों द्वारा शब्द से उत्पादित हलन चलन क्रिया एक स्थान से दूसरे स्थान तक

विभक्त किया जा सकता है—

१ आस्रव—किसी व्यक्ति के मन वचन या शरीर द्वारा कार्य करने पर समीपवर्ती सूक्ष्म परमाणुओं में हलन चलन उत्पन्न होकर आत्मा की ओर आकर्षित होना एवं उनमें कर्म शक्ति का उत्पन्न होना।

२ बन्ध—उपर्युक्त कर्म शक्तियुक्त परमाणुओं का आत्मा के साथ क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होना।

३ संवर—उस व्यक्ति का किसी समय राग-द्वेष आदि भावना से विमुक्त रहकर शुद्ध शान्त आनन्द स्वरूप में विराजमान होना, जिससे उस समय समीपवर्ती सूक्ष्म परमाणुओं में न कर्मशक्ति उत्पन्न हो और न वे सूक्ष्म परमाणु कर्म परमाणु की अवस्था में परिवर्तित होकर आत्मा की ओर आकर्षित हों।

४ निर्जरा—कर्म-परमाणुओं का कार्य रूप में परिणत होकर अर्थात् कर्मफल देकर कर्म शक्ति से विहीन होकर आत्मा से पृथक् हो जाना।

५ मोक्ष—उस व्यक्ति की आत्मा कर्म-परमाणुओं के समूह कार्माण शरीर से बद्ध है उन समस्त कर्म-परमाणुओं के समूह सूक्ष्म कार्माणशरीर से सर्वथा मुक्त हो जाना।

इन कर्म-परमाणुओं के समूह कार्माण शरीर ने ही मनुष्य की आत्मा को बन्धन में कर रखा है। इन्हीं कर्म-परमाणुओं ने जीव के वास्तविक स्वरूप अनन्त ज्ञान दर्शन असीम आनन्द एवं अनन्त शक्ति को अन्धकार में आच्छादित कर रखा है जिसके कारण अनन्त ज्ञान दर्शन व शक्ति मनुष्य आदि प्राणियों में आच्छादित होकर अल्प ज्ञान दर्शन व शक्ति के रूप में दिखलाई देती है तथा आत्मा का मूल शान्ति-स्वरूप विकृत होकर राग-द्वेष आदि भावना के रूप में प्रदर्शित होता है। मृत्यु होने पर इन्हीं कर्म परमाणुओं का सूक्ष्म कार्माणशरीर मनुष्य की आत्मा को दूसरी योनि में ले जाता है। इन्हीं कर्म परमाणुओं की शक्ति के कारण जीव नवीन शरीर धारण करता है एवं धीरे धीरे बढ़ता हुआ शिशु यौवन युवा व वृद्ध अवस्था तक पहुंचता है। यही कर्म शक्ति जीव की आयु निर्धारित करती है

साधारण अवलोकन-मात्र प्राणियों में पाई जाती है दर्शन-गुण के सीमित होने से ज्ञान प्राप्ति का द्वार बन्द हो जाता है। इस कर्म की तुलना शासक के उस ड्योढ़ीवान के साथ की जा सकती है जो शासक के साथ किसी व्यक्ति के मिलने में अड़चन डालता है। यदि ड्योढ़ीवान उस व्यक्ति को अन्दर जाने की आज्ञा न दे तो वह शासक से नहीं मिल सकता है। यही दशा दर्शनावरणीय (दर्शन पर आवरण करनेवाले) कर्म की है।

३ मोहनीय कर्म—कर्म शक्तियुक्त परमाणुओं में से वे परमाणु जिन्होंने आत्मा के शान्ति सुख स्वभाव को विकृत करके मोह उत्पन्न कर दिया है जिसके कारण यह शान्ति आनन्दमय स्वरूप विकृत होकर, काम क्रोध राग-द्वेष प्रेम-परोपकार आदि भिन्न भिन्न भावनाओं के रूप में प्रदर्शित होता है। इस मोहनीय कर्म की दशा मदिरा के समान है। जैसे मदिरा बुद्धिमान व्यक्ति की बुद्धि भ्रष्ट करके उसे मूढ़ एवं बेसुध बना देती है जिससे उसकी विवेक बुद्धि नष्ट हो जाती है माता बहिन व पत्नी में अन्तर नहीं समझता है उसी प्रकार यह कर्म आत्मा के सुख शान्तिमय स्वभाव को विकृत करके उसमें मोह उत्पन्न कर देता है जिसके कारण आत्मा अपने स्वरूप को भूल जाता है। अपने स्वरूप से सर्वथा भिन्न (अपने) शरीर एवं स्त्री पुत्र आदि चेतन गृह भूमि धन धान्य आदि अचेतन पदार्थों में ममत्व-बुद्धि धारण करता है। उनको अपना समझता है एवं पोषित करता है। संसार के संघर्ष में पड़ता है जिसके कारण काम क्रोध आदि अनेक प्रकार की भावनाएं उसमें उत्पन्न होती हैं।

४ अन्तराय कर्म—कर्म शक्तियुक्त परमाणुओं में से वे परमाणु जो ज्ञान दर्शन व आनन्द-स्वरूप के अतिरिक्त आत्मा के अन्य प्रकार के सामर्थ्य को प्रगट नहीं होने देते हैं। उसकी वीर्य-शक्ति के प्रगट होने में अन्तराय का कार्य करते हैं। इस कर्म के कारण आत्मा का सामर्थ्य केवल कुछ अंशों में प्रतिभासित होता है। मनुष्य में सकल्प-शक्ति साहस वीरता आदि की अधिकता या न्यूनता इस कर्म पर निर्भर है।

उपरोक्त ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मों को घातिकर्म के नाम से पुकारा करते हैं क्योंकि इनसे आत्मा के वास्तविक स्वरूप का घात होता है जिसके कारण आत्मा का अनन्त ज्ञान

ज्ञान व वाय आच्छादित होकर कुछ अंशों में प्रगट होता है एवं आत्मा की गति आनन्द स्वरूप विकृत होकर काम क्रोध आदि अनेक भावनाओं के रूप में प्रदर्शित होना है।

५ नामकर्म—कर्मशक्तियुक्त परमाणुओं में से वे परमाण जिनका काय जीव को एक योनि में दूसरी योनि में ले जाना है। जिस कर्मशक्ति से युक्त हुआ आत्मा शारीरिक मृत्यु होने पर, वर्तमान शरीर को छोड़कर दूसरी योनि में समस्त संचित कर्म-परमाणुओं के उपयुक्त उत्पत्ति स्थान की ओर आकर्षित होकर इस भांति चला जाता है जैसे चुम्बक की आकर्षण शक्ति द्वारा खिंचकर लोहा उसकी ओर चला जाता है। जिस कर्मशक्ति से युक्त हुआ आत्मा गर्भ में पहुंचकर कलल भ्रूणादि अवस्थाओं में होता हुआ शिशु के रूप में जन्म लेता है फिर विकास के रूप में वृद्धि करता करता बालक-युवावस्थाओं में होता हुआ वृद्ध दशा को प्राप्त होता है। सारांश में ये कर्म परमाणु जिनसे जीव की योनि एवं उस योनि सम्बन्धी शरीर की अनेक प्रकार की बनावट निश्चित होती है। इस कर्म की दशा उस चित्रकार के समान है जो मनुष्य पशु आदि प्राणियों के नाना प्रकार के चित्र खींचता है जिनको अनेक नामों से पुकारा जाता है।

६ गोत्रकर्म—कर्मशक्तियुक्त परमाणुओं में से वे परमाणु जो जीव को—जब वह किसी योनि में जन्म लेता है—स्थिति को निर्धारित करते हैं जिसके कारण वह जीव एक देश जाति परिवार गोत्र आदि में उत्पन्न होता है कि जहां उत्पन्न स्थान के कारण ही वह उच्च या नीच समझा जाता है या वे कर्म परमाणु—जो जीवन में उसके आचरण अनुसार—उच्च-नीच का बोध कराते हैं।

७ आयुकर्म—वे कर्म परमाणु जो जीव की आगामी योनि के लिए आयु निश्चित करते हैं जिनके कारण प्राणी उस योनि में प्राप्त हुए शरीर में कैद रहता है। आयुकर्म के समाप्त होने पर प्राणी उस विशेष योनि को त्याग कर उपयुक्त नाम कर्म के अनुसार आगामी योनि में चला जाता है एवं जाकर जन्म धारण कर लेता है।

८ वेदनीय कर्म—वे कर्म परमाणु जिनके कारण मनुष्य पशु आदि प्राणियों को भोजन-वस्त्र आदि आवश्यक सामग्री प्राप्त होती है

जिसके कारण मनुष्य को विपुल धन सम्पत्ति नाना प्रकार के वाहन आदि ऐश्वर्य अथवा भोग विलास के सामान का संयोग होता है या उसको धन हीन निर्धन-अवस्था प्राप्त होती है जिसमें रहने में वह व्यक्ति सुख या दुःख की वेदना का अनुभव करता है या जिसके कारण उसका शरीर स्वस्थ या रोगव्याधि युक्त होता है जिससे उस मनुष्य को सुख या दुःख का अनुभव होता है।

उपरोक्त नाम गोत्र आयु वेदनीय—इन चार कर्मों को अघाति कर्म[1] के नाम से पुकार सकते हैं क्योंकि इनसे आत्मा के वास्तविक स्वरूप का आघात आवरण या विकार तो उत्पन्न नहीं होता परन्तु इनसे प्राणियों की भिन्न भिन्न योनि भिन्न भिन्न अवस्थाएं एवं परिस्थिति निर्धारित होती हैं जिस परिस्थिति में जीव के रहने के कारण ही उपरोक्त घातिकर्म (ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय व अन्तराय) अपना कार्य कर सकते हैं।

उपरोक्त कर्म-परमाणुओं के आठ भेदों के वर्णन से स्पष्ट है कि ज्ञाना-वरणीय दर्शनावरणीय व अन्तराय कर्मों ने आत्मा के स्वाभाविक ज्ञान दर्शन एवं वीर्य गुणों को आच्छादित कर रखा है जिसके कारण मनुष्य में किंचित ज्ञान दर्शन व सामर्थ्य पाया जाता है। मोहनीय कर्म ने आत्मा के शान्त आनन्द स्वरूप को विकृत कर दिया है जो विकृत होकर काम क्रोध आदि भावनाओं के रूप में दिखलाई देता है। नामकर्म से जीव एक योनि से दूसरी योनि में जाता है एवं उसके शरीर आदि का निर्माण होता है। गोत्र कर्म से ऐसी परिस्थिति में उत्पन्न होता है या ऐसा आचरण करता है जिसके कारण उच्च या नीच समझा जाता है। आयुकर्म से आयु नियत होती है। वेदनीय कर्म से सुख या दुःख की सामग्री का संयोग स्वस्थ या अस्वस्थ शरीर प्राप्त होता है।

इस बंध हुए कर्मों का ऐसा मिश्रित रूप है। जब कोई व्यक्ति

---

[1]अघातिकर्म—अघाति दो शब्द अ+घाति से बना है। 'अ' का अर्थ संस्कृत भाषा में नहीं या किंचित होता है यहां पर अ से तात्पर्य किंचित का है। अतः अघातिकर्म का अर्थ किंचित घात करनेवाला कर्म होता है।

मान लो कोई जीव पशु-योनि में शरीर धारण किये हुए है और उसके ज्ञानावरणीय कर्म का मन्द उदय आया है, जिसका प्रभाव यह होना चाहिए कि उसके वास्तविक ज्ञान का—जो ज्ञानावरणीय कर्म से आवृत है—विकास अधिक हो। परन्तु पशु-योनि के कारण उस जीव की परिस्थिति ऐसी है कि उसके ज्ञान गुण का विकास अधिक नहीं हो सकता है। ऐसी परिस्थिति में उस ज्ञानावरणीय कर्म का मन्द उदय बिना फल दिये हुए ही नष्ट हो जायगा। या मान लो उस पशु-योनिधारी जीव के ऐसे कर्मों का उदय आया है कि जिनके कारण उसकी प्रवृत्ति दया-परोपकार आदि शुभ कार्यों की ओर हो। पशु-योनि के कारण परिस्थिति ऐसी है कि वह दया-परोपकार आदि कार्यों में प्रवृत्त हो नहीं सकता है। ऐसी अवस्था में, उपरोक्त कर्मों के फल का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा और वे कर्म बिना फल दिये हुए ही नष्ट हो जायगे।

उपरोक्त विवेचन से इस परिणाम पर पहुंचा जाता है कि कर्म-परमाणु कार्यान्वित होने पर अनुकूल परिस्थिति में ही पूरा फल देते हैं। यदि परिस्थिति बिल्कुल विपरीत होती है तो वे कर्म-परमाणु बिना फल दिये हुए ही नष्ट हो जाते हैं और यदि परिस्थिति कुछ विपरीत और कुछ अनुकूल होती है तो उन कर्मों का फल भी पूरा नहीं मिलता है, अधूरा ही रहता है। इस प्रकार पूर्व संचित कर्मों का फल मिलना बाह्य साधन व परिस्थिति पर कितने ही अंशों में निर्भर रहता है।

मनुष्य जब मदिरा पीता है तो उसे नशा हो जाता है। किसी मदिरा का नशा तत्काल ही हो जाता है किसी का घंटे दो घंटे बाद किसी मदिरा का नशा तीव्र होता है किसी का मन्द। किसी का नशा घंटा भर रहता है किसी का अधिक देर तक। ठीक इसी प्रकार मनुष्य जब मन, वचन या शरीर द्वारा कार्य करता है तो उसकी भावना के अनुसार सूक्ष्म परमाणुओं में कर्मशक्ति उत्पन्न हो जाती है। ये कर्मशक्तियुक्त परमाणु कुछ समय पश्चात् कार्य रूप में परिणत होते हैं अर्थात् इन कर्म-परमाणुओं का फल मिलने लगता है। मदिरा के नशे की भांति कुछ कर्म परमाणुओं का प्रभाव तत्काल होने लगता है कुछ का कुछ दिन महीने या वर्ष बाद। मदिरा के नशे की भांति कुछ कर्मों का प्रभाव तीव्र होता है और कुछ का

से है। कुछ कर्मों का प्रभाव अधिक समय तक रहता है और कुछ का थोड़े समय तक।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राणी के मन, वचन या शरीर द्वारा कार्य करने से उसकी उस समय की भावना के अनुसार, समीपवर्ती सूक्ष्म परमाणुओं में हलन-चलन उत्पन्न हो जाता है और इन परमाणुओं का आत्मा के साथ सम्बन्ध हो जाता है। इन कर्म-परमाणुओं के कार्य रूप में परिणत होने से उस व्यक्ति को अपने पूर्वकृत कर्मों का फल मिलता रहता है। उसकी मनोवृत्ति बदल जाती है, काम क्रोध आदि रूप अनेक प्रकार की भावना उत्पन्न होती है। जिसके कारण वह व्यक्ति फिर नवीन कार्य करता है। इस नवीन कार्य एवं भावना से वह फिर नवीन कर्म परमाणुओं से बंधता है। इस प्रकार कार्य और कारण की शृंखला अनन्त बनती रहती है और जीव कर्म के बंधन में आबद्ध अनेक योनियों में जन्म लेता हुआ अनादि काल से इस संसार में भ्रमण करता हुआ चला आता है।

३—दार्शनिकों के मत

प्राणियों को पूर्वकृत कर्मों के फल मिलने के सम्बन्ध में, उपरोक्त कर्म सिद्धान्त के निश्चय होने पर यह जानना अनुचित न होगा कि इस सम्बन्ध में प्रचलित धर्मों के दार्शनिकों के क्या मत हैं। इनके विवेचन से कितना ही प्रकाश अनुमान द्वारा निश्चित उपरोक्त कर्म सिद्धान्त की सत्यता पर पड़ेगा।

(क) ईसाई व इस्लामी दर्शनों के मत—ईसाई व इस्लामी दार्शनिकों की धारणा है कि ईश्वर ने इस जगत का निर्माण किया है, वही समस्त प्राणि-समाज की रचना करता है। इस जगत में उत्पन्न होने से पहले इन प्राणियों के अस्तित्व का कोई पृथक् अस्तित्व न था। शारीरिक मृत्यु होने पर मनुष्य न्यायदिवस की प्रतीक्षा में रहते हैं। न्याय के दिन ईश्वर इन सब आत्माओं के मनुष्य-जन्म में किये हुए कर्मों का निपटारा करता है। जिन सब आत्माओं ने मनुष्य जन्म में पुण्य कर्म किये हैं उनको स्वर्ग में भेज देता है जहाँ अनन्त काल तक अप्सराओं के साथ भोग विलास करते हुए सुख में मस्त रहते हैं। जिन सब आत्माओं ने मनुष्य जन्म में पाप

कर्म किए हैं उनको सजा के लिए नरक में डाल देता है जहाँ वे नाना प्रकार के दुख पाते रहते हैं।

इस धारणा में अनुमान द्वारा निश्चित उपरोक्त कर्मसिद्धान्त का, न कोई स्थान है और न हो ही सकता है क्योंकि इन धर्मों ने विद्यमान समस्त प्राणि समाज का रचयिता एक ईश्वर मान लिया है जो सम्पूर्ण प्राणियों के कार्यों की सूचना रखता है और जो न्याय के दिन मृत आत्माओं को उनके पुण्य अथवा पाप कर्मों के अनुसार सजा के लिए स्वर्ग या नरक में भेज देता है।

(ख) भारतीय दार्शनिकों के मत—भारत में जितने भी धर्म प्रचलित हुए हैं उन सब धर्मों के दार्शनिकों ने यही माना है कि जो जैसा करता है उसको उसका फल अवश्य भोगना पड़ता है। यह जीव अपने पूर्वकृत कर्मों के अनुसार एक योनि से दूसरी योनि को जाता है। इन्हीं के कारण इसको सुख दुख मिलता है। जो कर्म मनुष्य करता है उसका फल उसको अवश्य मिलता है। आज के कर्म का फल उसको कल भोगना पड़ता है और कल का परसों इतना ही नहीं किन्तु जो कर्म इस जन्म में किया जाता है उसका फल अगले जन्म में भी भोगना पड़ता है। भारतीयों की साधारण धारणा है कि जैसी करनी वैसी भरनी। बल्कि धर्मानुयायी समस्त जनता की (उनकी भी जो ईश्वर को कर्मफलदाता मानते हैं) यही मान्यता है कि प्राणी को अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। महाभारत (शान्तिपर्व २४० ७) में कहा है—

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते।

अर्थात् प्राणी अपने कर्मों के द्वारा बंध जाता है और ज्ञान के द्वारा छूट जाता है। यही बात भगवद्गीता (५ १५) में कहा है—

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

अर्थात्—ईश्वर न किसी का पाप लेता है और न पुण्य ही। ज्ञान पर अज्ञान का परदा पड़ा हुआ है जिसके कारण प्राणि-समाज में मोह उत्पन्न

वेदान्त दार्शनिकों के विषय मे ... है

कि प्रत्येक सांसारिक आत्मा के साथ प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं का बना हुआ सूक्ष्म शरीर रहता है जिसको वे 'लिंगशरीर' या 'सूक्ष्म शरीर' कहते हैं। मनुष्य जो कर्म करता है उसका संस्कार इस सूक्ष्म शरीर में रहता है। जितने कर्म मनुष्य ने पूर्व या इस जन्म में किये हैं और जिनका फल उसने अभी तक नहीं भोगा है उनके कर्म-संस्कार इस सूक्ष्म शरीर में रहते हैं। इन कर्म-संस्कारों से युक्त लिंग शरीर ही मनुष्य को एक योनि से दूसरी योनि में ले जाता है। माता के गर्भ में बनने अवस्था से लगाकर वृद्ध अवस्था पर्यन्त यही लिंगशरीर उस व्यक्ति के शरीर की वृद्धि करता है। उसको अपने पूर्व-कर्मों का फल भोगना पड़ता है। इन दार्शनिकों ने इन बंधे हुए कर्म संस्कारों के तीन भेद किये हैं—

१ संचित कर्म—वे समस्त कर्म हैं जो मनुष्य ने पूर्व या इस जन्म में बांधे हैं और जिनका फल अभी तक मिलना प्रारम्भ नहीं हुआ है। इस संचित कर्म को अदृष्ट कर्म भी कहा है।

२ प्रारब्ध कर्म—वे कर्म जिनका फल मिलना प्रारम्भ हो गया है। इसको प्रारब्ध भी कहा है।

३ क्रियमाण कर्म—वह कर्म जो अभी किया जा रहा है यह केवल वर्तमान काल का सूचक है।

श्री बादरायण आचार्य ने कर्मभोग के सम्बन्ध में वेदान्तसूत्र (४ १ १५) में केवल दो ही भेद किये हैं—

१ प्रारब्ध कर्म—वे कर्म हैं जिनका फल भोगना प्रारम्भ हो गया है।

२ अनारब्ध कर्म—वे कर्म हैं जिनका फल भोगना अभी प्रारम्भ नहीं हुआ है।

इन दार्शनिकों का मत है कि जिन कर्मों का फल मिलना प्रारम्भ हो जाता है उन कर्मों का फल उस व्यक्ति को अवश्य भोगना पड़ता है—

प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः।'

प्रारब्ध कर्म का फल व्यक्ति को पूर्णतया भोगना पड़ता है बीच में क्षय नहीं किया जा सकता। जैसे हाथ से छूटा हुआ बाण अन्त तक चला जाता है न बीच में रुकता है और न लौटकर आता है। परन्तु अनारब्ध कर्म की दशा ऐसी नहीं होती वह ज्ञान के द्वारा नष्ट किया जा सकता है।

बिना भोगे ही उसका क्षय किया जा सकता है।

सांख्यदर्शन ने लिंग शरीर को प्रकृति के निम्नलिखित अठारह सूक्ष्म तत्वों का बना हुआ माना है—महत् (बुद्धि) अहंकार मन पांच ज्ञानेन्द्रियां पांच कर्मेन्द्रियां और पांच तन्मात्राएं। वेदान्तदर्शन ने लिंग शरीर को उपरोक्त अठारह तत्वों के अतिरिक्त उन्नीसवें चित्त (जिसमें अनेक प्रकार की भावनाएं रहती हैं) तत्व का भी बना हुआ माना है। ये तत्व सूक्ष्म प्रकृति के बने हुए हैं। इनमें से प्रथम तेरह तत्वों को प्रकृति के गुण भी कह सकते हैं परन्तु अन्तिम शब्द रूप स्पर्श रस गंध पंच तन्मात्राएं प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं के बनी हुई हैं। इस प्रकार इस लिंग शरीर को प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं का बना हुआ माना है जो सदैव सांसारिक आत्मा के साथ रहता है। जब मनुष्य ज्ञान द्वारा संचित कर्मों का नाश कर देता है तब यह लिंग या सूक्ष्म शरीर भी आत्मा से पृथक् हो जाता है और आत्मा कर्मबंधन से मुक्त होकर कैवल्य पद को प्राप्त हो जाता है।

किसी व्यक्ति के, किसी कार्य करने में उस कार्य के फलस्वरूप जो कर्म-संस्कार उसके लिंग शरीर में पड़ते हैं अर्थात् जो कर्म-बन्धन वह व्यक्ति करता है उसके कारण उस व्यक्ति की राग द्वेष रूप प्रवृत्ति होती है। जैसी जैसी उस व्यक्ति की काम क्रोध आदि भावनाएं कार्य करने के समय होती हैं वैसा ही वह व्यक्ति कर्मबन्धन करता है। यदि उस व्यक्ति के किसी कार्य करते समय बिल्कुल शुद्ध भाव हों कोई आसक्ति कार्य में न हो कार्य को पूर्ण निष्काम भाव से करे तो उस कार्य के फलस्वरूप वह किसी कर्मबन्धन में नहीं फंसता है। मैत्र्युपनिषद (६ ३४) में कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मोक्षे निर्विषयं स्मृतम्॥

अर्थात्—मनुष्य के (कर्म से) बन्धन या मोक्ष का कारण मन ही है। मन के विषयासक्त होने से बन्धन और निष्काम निर्विषय एवं अनासक्त होने से मोक्ष होता है। भगवद्गीता में तो इसी बात का प्रतिपादन किया गया है कि विषयासक्त होने फल की आशा से कर्म करने अथवा राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति होने से मनुष्य कर्मबन्धन करता है। निष्काम कर्म करने से न उसका किसी प्रकार का कर्मबन्धन होता है और न वह किसी पाप का भागी

होता है। श्री भगवद्गीता (४ २० २१ २२) में कहा है—

> त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
> कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥
> निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
> शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥
> यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
> समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥

अर्थात्—कर्मफल की आसक्ति छोड़कर, जो सदा तृप्त और निराश्रय है (यानी जो पुरुष कर्म को बिना फलाशा के सदा तृप्त हुआ करता है)—कहना चाहिए—वह कर्म करते हुए भी कुछ नहीं करता है। फल की वासना का त्याग करनेवाला (निराशी) चित्त का नियन्त्रित रखने वाला सब परिग्रह से मुक्त (यानी आसक्ति से मुक्त) पुरुष, केवल शरीर एवं कर्मेंद्रियों से कर्म करता हुआ भी पाप का भागी नहीं होता है। जो यदृच्छा से प्राप्त हो जाय उसमें संतुष्ट, हर्ष शोक आदि द्वन्द्वों से मुक्त अभिमान शून्य कार्य की सिद्धि अथवा असिद्धि में समता रखनेवाला पुरुष कर्म करता हुआ भी पाप अथवा पुण्य से बद्ध नहीं होता है।

पूर्व मीमांसा के कुछ भाष्यकार एवं आचार्यों ने कर्मबन्धन का कुछ वर्णन किया है। परन्तु योग न्याय व वैशेषिक दर्शनों ने कर्मबन्धन विषय का विवेचन अधिक नहीं किया है। उपरोक्त दर्शनों की इस विषय में एक प्रकार से उपेक्षा रही है। केवल इतना कहकर—मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, उसका फल उसको इस या आगामी जीवन में भोगना पड़ता है—संतुष्ट हो गए हैं। उन्होंने यह नहीं बतलाया कि किस प्रकार मनुष्य को अपने पूर्वकृत कर्मों का फल भोगना पड़ता है।

बौद्ध दार्शनिकों का भी यही मत है कि जो कर्म मनुष्य करता है उस कर्म के अनुसार संस्कार पड़ जाते हैं और मनुष्य को अपने पूर्वकृत कर्मों का फल इन संस्कारों द्वारा मिल जाता है। इसका विशेष वर्णन नहीं किया है।

(घ) जैन दार्शनिकों का विशेष मत—जैन दार्शनिकों का भी यही मत है कि जो जैसा कर्म करता है उसको वैसा ही फल मिलता है। जैनों

चार्य श्री अमितगति ने कहा है :—

> स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा
> फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।
> परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं
> स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥

अर्थात्—जो कर्म पूर्वकाल में मनुष्य द्वारा किया गया है उसका शुभ अथवा अशुभ फल उसको मिलता है। यदि यह माना जाय कि यह फल किसी अन्य व्यक्ति का दिया हुआ है तो अपने किये हुए कर्म निरर्थक हो जाएँगे।

जैन दर्शन की मान्यता है कि कर्मफल देनेवाला कोई अन्य विशेष चेतन व्यक्ति या ईश्वर नहीं है। कर्म-फल स्वयं मनुष्य को मिलता रहता है। मन वचन या शरीर द्वारा कार्य करने के समय मनुष्य की राग-द्वेष आदि जैसी परिणति या भावना होती है उसी भावना के अनुसार मनुष्य को उसके कार्य का फल मिलता है। यदि किसी समय मनुष्य के भाव सर्वथा शुद्ध हों उसमें राग-द्वेषादि रूप किसी प्रकार की भावना विद्यमान न हो वह निर्ममत्व निर्लेप वीतरागी हो तो उस समय उस व्यक्ति के शारीरिक कार्य करते हुए भी किसी प्रकार का कर्म-बन्धन नहीं होता है। मोक्ष शास्त्र (अ० ८ २) में कहा है—

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः ।

अर्थात्—जीव क्रोध अभिमान आदि कषाय (वासना भावना आदि) से युक्त होने पर कर्म में परिणत होने के योग्य सूक्ष्म पुद्गल-परमाणुओं (सूक्ष्म परमाणु जिनमें कर्मशक्ति ग्रहण करने की योग्यता हो) को ग्रहण करता है। इस ग्रहण करने को ही बन्ध (कर्मबन्धन) कहते हैं। जैन दर्शन प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा के साथ साथ सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं का बना हुआ एक सूक्ष्म शरीर मानता है। इस सूक्ष्म शरीर के सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं में उस व्यक्ति के पूर्वकृत कर्मों के फल देनेवाली शक्ति इस प्रकार [illegible] शक्ति। इस सूक्ष्म शरीर को

फल मिलता है वह उस समय उदय में आये हुए समस्त कर्मों की कर्म शक्तियों की जाग्रति का प्रतिफल होता है। शरीर से हलन चलन रोकने, वचन न बोलने एवं मन को शुद्ध रखने से नवीन कर्मों का आगमन रुक जाता है। नवीन कर्मों के आगमन निरोध को सम्वर कहते हैं।

मनुष्य अपने भावों को शुद्ध रखने सांसारिक बाह्य वस्तुओं में मोह ममता त्यागने क्रोध मान आदि कषाय (अशुभ भावना) के छोड़ने एवं राग रूप शुभ भावनाओं से भी दूर रहने पर नवीन कर्मबन्धन से बच जाता है और पूर्व-संचित कर्मों को—जो अभी तक उसकी आत्मा से सम्बंधित हैं—तपस्या द्वारा शीघ्रता से निर्जरा (नष्ट) करके मुक्त हो जाता है। बन्धन से मुक्त होने पर आत्मा का शुद्ध चेतन आनन्द स्वरूप प्रकट हो जाता है एवं वह सच्चिदानन्द अवस्था को प्राप्त हो जाता है। कर्मबन्धन से मुक्त अवस्था को मोक्ष कहते हैं।

जैन दर्शन ने सात तत्व माने हैं। जैन-समाज में अत्यन्त प्रसिद्ध एवं सर्वमान्य मोक्षशास्त्र में कहा है —

जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वं।'

अर्थात् जीव अजीव (जीव के अतिरिक्त पुद्गल आदि अन्य द्रव्य), आस्रव (उपरोक्त कर्मों का आगमन) बंध (आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध) सम्वर (नवीन कर्मों के आगमन का निरोध) निर्जरा (कर्म का फल देकर अथवा बिना फल दिये नष्ट हो जाना) व मोक्ष (आत्मा का समस्त कर्म बंधन से मुक्त हो जाना) सात तत्व हैं। उपरोक्त सात तत्वों के ठीक ठीक समझने एवं उनपर श्रद्धान करने के लिए जैन ग्रंथों में बड़ा जोर दिया है।

जिस प्रकार भोजन शरीर के भीतर प्रवेश करने पर रक्त मांस आदि सप्त धातु व मल मूत्र में विभक्त हो जाता है उसी प्रकार कर्मशक्ति-युक्त कार्माण वर्गणा (अर्थात् कर्म) भी निम्नलिखित आठ भेदों में विभक्त हो जाते हैं —

१ ज्ञानावरणीय कर्म २ दर्शनावरणीय कर्म ३ मोहनीय कर्म ४ अंतराय कर्म ५ नामकर्म ६ गोत्र कर्म ७ आयुकर्म और ८ वेदनीय कर्म।

इसके नाम व कार्य वही हैं जो अनुसंधान द्वारा निश्चित किये हुए उपरोक्त कर्म सिद्धान्त में कर्म के आठ भेद हैं। गोमट्टसार आदि ग्रंथों में इन आठ कर्मों का विवरण विस्तारपूर्वक दिया हुआ है। इनका एक सौ अड़तालीस उत्तर भेदों (उत्तर प्रकृति या कर्म) में विभक्त किया है[1] जो

---

[1]१—ज्ञानावरणीय कर्म के पांच भेद हैं—

१ मतिज्ञानावरणीय कर्म—मतिज्ञान (वस्तु का साधारण ज्ञान) को ढकनेवाला कर्म।

२ श्रुतज्ञानावरणीय कर्म—श्रुतज्ञान (वस्तु के साधारण ज्ञान होने के पश्चात बुद्धि व विचार द्वारा विशेष बातें निश्चित करना जैसे क्या यह वस्तु लाभदायक है या हानिकारक) को आच्छादित करनेवाला कर्म—

३ अवधिज्ञानावरणीय कर्म—अवधिज्ञान (सीमित दिव्य ज्ञान जिसके द्वारा मनुष्य मन व इन्द्रियों की सहायता के बिना कुछ क्षेत्र व काल-सम्बन्धी वस्तु व घटनाओं को जान लेता है) को आच्छादित करनेवाला कर्म।

४ मनःपर्ययज्ञानावरणीय कर्म—मनःपर्ययज्ञान (सीमित दिव्य ज्ञान जिसके द्वारा तपस्वी मनुष्य बिना मन व इन्द्रियों की सहायता के कुछ क्षेत्र व काल सम्बन्धी अन्य मनुष्यों के मन स्थित विचारों को जान लेता है) को आच्छादित करनेवाला कर्म।

५ केवलज्ञानावरणीय कर्म—केवलज्ञान (पूर्ण दिव्यज्ञान जिसके द्वारा महान आत्माएं बिना किसी इन्द्रिय व मन की सहायता के सम्पूर्ण पदार्थों को युगपत जानते हैं) को आच्छादित करने वाला कर्म।

२—दर्शनावरणीय कर्म के निम्नलिखित नौ भेद हैं—

१ चक्षुदर्शनावरणीय कर्म—चक्षुदर्शन (नेत्र द्वारा सामान्य अवलोकन) को आच्छादित करनेवाला कर्म जिससे अंधापन या न्यून दृष्टि हो।

उपरोक्त गोमट्टसार एवं अन्य ग्रंथों से जाना जा सकता है। इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न कर्मों का बन्धन उदय (फल देना) अनुभिन्नति (नष्ट

२ अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म—अचक्षुदर्शन (नेत्रों के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों के द्वारा सामान्य ज्ञान) को आच्छादित करने वाला कर्म जिससे मनुष्य बहिरा आदि होता है।

३ अवधिदर्शनावरणीय कर्म—अवधिदर्शन (अवधिज्ञान से पूर्व सामान्य अवलोकन) को आच्छादित करनेवाला कर्म।

४ केवलदर्शनावरणीय कर्म—केवलदर्शन (केवलज्ञान से पूर्व सामान्य अवलोकन) को आच्छादित करनेवाला कर्म।

५ निद्राकर्म—थकावट दूर करने के लिए साधारण निद्रा उत्पन्न करनेवाला कर्म।

६ निद्रानिद्रा कर्म—प्रगाढ़ निद्रा (जिसके कारण मनुष्य नेत्रों को उघाड़ न सके) उत्पन्न करनेवाला कर्म।

७ प्रचला कर्म—जिसके होने पर शोक आदि के कारण विकार उत्पन्न होकर शरीर का संज्ञाहीन होना जिससे मनुष्य नेत्र को कुछ खोले ही सोता रहता है।

८ प्रचलाप्रचला कर्म—जिसके कारण निद्रा में मुंह से लार जाती है एवं शरीर के अंग चलते रहते हैं।

९ स्त्यानगृद्धि कर्म—जिस कर्म के कारण, निद्रा आने पर मनुष्य बीच में ही उठकर जागृत मनुष्य की भांति अनेक रौद्र कर्म करे, परन्तु निद्रा के टूटने पर उसको यह ज्ञान न हो कि मैंने क्या किया है।

३—मोहनीय कर्म के मुख्य दो भेद हैं—दर्शन मोहनीय व चारित्र मोहनीय कर्म। दर्शन मोहनीय कर्म—आत्मा के वास्तविक स्वरूप के श्रद्धान में बाधा डालता है। इसके तीन भेद होते हैं—

१ मिथ्यात्व प्रकृति—वह कर्म जिसके उदय से मनुष्य न उपरोक्त सात तत्वों को समझकर श्रद्धा कर सके, न उसका मन हिताहित की परीक्षा में लगे। यह कर्म सम्यक् दर्शन का घातक है।

या पृथक होना) सत्ता (आत्मा के साथ रहना) आदि का वर्णन भी विशद रूप से किया है जिनके ध्यानपूर्वक अध्ययन व विचारने से मनुष्य जीवन

---

२ सम्यक्त्व प्रकृति—जिसके उदय से सम्यक दर्शन (सात तत्वों का श्रद्धान, आत्मरुचि) का तो नाश न हो परन्तु उसमें दोष उत्पन्न होते हों।

३ सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृति—जिसके उदय से तत्वों के श्रद्धान व अश्रद्धान दोनों प्रकार के मिश्रित भाव हों।

चारित्रमोहनीय कर्म—शुद्ध चरित्र के पालने में बाधा डालता है। इसके पच्चीस उत्तर भेद होते हैं। क्रोध मान (गर्व), माया (कपट) व लोभ चार कषाय (वासना) है। तीव्रता मन्दता की अपेक्षा इनमें से प्रत्येक के निम्नलिखित चार-चार भेद होते हैं—

१ अनन्तानुबंधी कषाय—क्रोधादि उपरोक्त चार कषायों में से प्रत्येक का तीव्रतम भाव जो पत्थर की लकीर की भांति दीर्घ काल तक रहता है। इन तीव्र भावनाओं के होते हुए सम्यक दर्शन (आत्म-दर्शन आत्म रुचि आदि) नहीं होने पाता है। ये मिथ्यात्व के साथी हैं।

२ अप्रत्याख्यान कषाय—क्रोधादि उपरोक्त चार कषायों में से प्रत्येक का तीव्र भाव जो मिट्टी में लकीर की भांति कुछ काल तक रहता है। यह [(अ=किंचित) + प्रत्याख्यान (त्याग)] थोड़े से त्याग, अर्थात गृहस्थ के अणुव्रत में भी बाधा डालता है।

३ प्रत्याख्यान कषाय—क्रोधादि उपरोक्त चार कषायों में से प्रत्येक कषाय का वह मन्द भाव जो बालू में लकीर की भांति अल्प काल तक रहता है। ये कषाय गृहस्थ को अणुव्रत पालने में बाधा नहीं डालते परन्तु ये उसको साधु के महाव्रत पालने से रोकते हैं।

४ संज्वलन कषाय—क्रोधादि उपरोक्त चार कषायों में से प्रत्येक भाव, जो जल में लकीर की भांति

की सारी समस्याओं पर बड़ा प्रकाश पड़ता है और बिना ही यत्न में प्रश्नों का सन्तोषप्रद उत्तर मिल जाता है।

ही नष्ट हो जाता है। प्रत्याख्यान पूर्ण त्याग को भी नहीं रोकते हैं, केवल उनके कारण, कुछ कुछ दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक क्रोध, मान, माया व लोभ के उपरोक्त चार भेद होने से सोलह उत्तर भेद (प्रकृति) होते हैं। नव भी भेद निम्नलिखित हैं —

१ रति (रागरूप भावना) २ अरति (द्वेषरूप भावना), ३ भय ४ जुगुप्सा (ग्लानि की भावना) ५ हास्य ६ शोक, ७ पुरुष वेद (स्त्री के साथ रमने की इच्छा होना) ८ स्त्री वेद (पुरुष के साथ रमने की इच्छा होना), ९ नपुंसक वेद (स्त्री व पुरुष दोनों के साथ रमने की इच्छा होना)।

इस प्रकार दर्शनमोहनीय के तीन भेद व चारित्र मोहनीय के पच्चीस भेद मिलाकर कुल अट्ठाईस उत्तर भेद, मोहनीय कर्म के हुए।

४—अन्तराय कर्म के निम्नलिखित पांच भेद होते हैं —

१ दानान्तराय कर्म— अन्तराय कर्म की वह उत्तर प्रकृति (भेद) जो मनुष्य के दान देने में इस प्रकार बाधा डाले जिस प्रकार मन्त्री राजा के दान देने में अड़चन डाल देता है।

२ लाभान्तराय कर्म—अन्तराय कर्म की वह उत्तर प्रकृति जो मनुष्य के लाभ होने में विघ्न डाले।

३ भोगान्तराय कर्म
४ उपभोगान्तराय कर्म

अन्तराय कर्म की वे उत्तर प्रकृतियां जिनके उदय होने से मनुष्य भोजन एवं उपभोगने (जो वस्तु बार बार भोगी जा सके जैसे वस्त्र आदि) में समर्थ होता हुआ भी भोग या उपभोग न कर सके।

जैन ग्रन्थों में इस कर्म बन्धन का एक अन्य दृष्टि से निम्नलिखित चार भागों में विभाजन किया गया है—

---

५ वीर्यान्तराय कर्म—जिस उत्तर प्रकृति के उदय होने से, सामर्थ्य प्रकट न हो सके।

५—नाम कर्म के निम्नलिखित ४२ भेद तथा इन भेदों के उत्तर भेद करने से ६३ होते हैं —

१ गति नाम कर्म—वह कर्म जिसके कारण मनुष्य तिर्यञ्च (पशु पक्षी जलचर कीट आदि) देव व नरक चार गतियाँ मिलती हैं।

२ जातिकर्म—जिसके कारण जीव को ज्ञानेन्द्रिया प्राप्त होती हैं। इसके पांच भेद हैं —

१ एकेन्द्रिय जाति—जिसके केवल स्पर्श इन्द्रिय हो। जैसे वृक्ष लता।

२ द्वीन्द्रिय जाति—जिसके केवल स्पर्श व मुख दो इन्द्रियां हों। जैसे कृमि लट।

३ त्रीन्द्रिय जाति—जिसके केवल स्पर्श, मुख व नासिका तीन इन्द्रियां हों। जैसे चींटी।

४ चतुरिन्द्रिय जाति—जिसके केवल स्पर्श मुख नासिका व नेत्र चार इन्द्रियां हों जैसे मक्खी भ्रमर।

५ पंचेन्द्रिय जाति—जिसके उपरोक्त चार इन्द्रिया व पांचवीं इन्द्रिय कर्ण भी हों। जैसे मनुष्य पशु आदि।

३ शरीरनाम कर्म—जिससे शरीर की रचना हो। शरीर निम्नलिखित पांच प्रकार के होते हैं —

१ औदारिक शरीर नाम कर्म—जिससे मनुष्य, पशु पक्षी कीट वृक्ष आदि का औदारिक (उदर रखनेवाला) शरीर बनता है।

२ वैक्रियक शरीर नाम कर्म—वह कर्म जिससे वैक्रियक शरीर (सूक्ष्म परमाणुओं का वह शरीर जो इन्द्रियों के

१ प्रश्न-बन्ध—किसी कर्म-बन्धन के समय कितनी कार्माण वर्गणा (सूक्ष्म परमाणुओं) का कर्मशक्ति-युक्त होकर, आत्मा के साथ सम्बन्ध हुआ है अर्थात कितने सूक्ष्म परमाणु कर्मान्वित से युक्त होकर,

अगोचर हो और दीवाल आदि स्थूल पदार्थों में से निकल जाये) मिलता है। यह शरीर देव योनि के स्वर्गवासी देव, भूत प्रेत आदि नीच प्रकार के देव एवं नारकियों का होता है। इस शरीर में विक्रिया (परिवर्तन) होती रहती है।

३ आहारक शरीर नाम कर्म—वह कर्म प्रकृति जिसके कारण तपस्वी ऋद्धिधारी मुनि के ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाय कि किसी सन्देह के उत्पन्न होने पर उस सन्देह को दूर करने के लिए उनकी आत्मा के प्रदेश बढ़कर एक पुतले के रूप में सर्वज्ञ अरहत के पास तक चले जाय और सन्देह को मिटाकर वापस आ जाय। इस पुतले को आहारक शरीर कहते हैं। यह अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुओं का बना होता है।

४ कार्माणशरीर नामकर्म—उपरोक्त कर्म परमाणुओं का समूह जो आत्मा के साथ सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है।

५ तैजस शरीर नामकर्म—वह कर्म प्रकृति जिसके कारण प्रत्येक प्राणी के एक और सूक्ष्म परमाणुओं का शरीर होता है, जिससे उसके भौतिक शरीर में तेज प्रतीत होता है।

४ अगोपांग नाम कर्म—जिससे मस्तक पीठ, बाहु आदि अंग, ललाट आदि उपांग का भेद प्रकट हो यह (औदारिक वक्रियक, आहारक शरीरांगोपांगनामकर्म) तीन प्रकार का होता है।

५ निर्माण नामकर्म—जिससे शरीर का निर्माण हो यह दो प्रकार का होता है—

१ स्थान निर्माण—जिससे ठीक ठीक स्थान पर नासिका, कर्ण आदि अंग बनें।

२ प्रमाण निर्माण—जिससे भिन्न भिन्न अंगों की लम्बाई, चौड़ाई ठीक हो।

कर्म परमाणुओं में परिवर्तित एवं आत्मा में सम्बंधित हुए हैं।

२ प्रकृति-बंध—एक ही समय में बंधे हुए कर्म परमाणुओं में से

---

६ बन्धन नामकर्म—जिसके कारण शरीर के पुद्गल स्कन्ध मिलते हैं। उपरोक्त औदारिक आदि पांच शरीर सम्बन्धी बन्धन भी (औदारिक शरीर बन्धन नामकर्म आदि) पांच प्रकार का होता है।

७ संघात नामकर्म—जिसके कारण शरीर के पुद्गल-स्कन्ध छिद्ररहित परस्पर मिलें। उपरोक्त पांच प्रकार के शरीरों से सम्बंधित संघात भी पांच प्रकार का होता है।

८ संस्थान नामकर्म—जिसके कारण शरीर सुडौल या बेडौल बनता है। इसके निम्नलिखित छह भेद हैं—

१ समचतुरस्र संस्थान नामकर्म—जिसके कारण शरीर की आकृति ऊपर-नीचे सुडौल हो।

२ न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान नामकर्म—जिसके कारण वट-वृक्ष के समान नीचे का भाग पतला और ऊपर का स्थूल हो।

३ स्वाति संस्थान नामकर्म—जिसके उदय से नीचे का भाग स्थूल और ऊपर का पतला हो।

४ कुब्जक संस्थान नामकर्म—जिसके उदय से शरीर कुबड़ा हो।

५ वामन-संस्थान नाम कर्म—जिसके उदय से शरीर बहुत छोटा हो।

६ हुंडक-संस्थान नामकर्म—जिसके उदय से शरीर बेडौल हो या अंगों में कमी या अधिकता हो।

९ संहनन नाम कर्म—जिसके कारण शरीर की अस्थि पंजरादि में विशेषता हो जिससे शरीर दृढ़ या हीन हो। इसके छः भेद हैं।

१० स्पर्श नामकर्म—जिसके कारण कर्कश, मृदु, गुरु लघु स्निग्ध,

४ अनुभाग व न्ध—स्थिति व न्ध के उपरोक्त वर्णन में जब कर्म-फल किस शक्ति का मिलता है तो किसी कर्म का फल तीव्र होता है और किसी का मन्द। कर्म-फल की तीव्र या मन्द शक्ति को अनुभाग कहते हैं।

३४ पर्याप्ति नामकर्म—जिसके उदय से जीव में शरीर इंद्रिय आदि के लिए परमाणु व स्कन्ध ग्रहण करने की शक्ति उत्पन्न हो जाय। यह छ प्रकार का होता है।

३५ अपर्याप्ति नामकर्म—जिसके उदय होने से जीव छ पर्याप्तियों में से एक को भी पूर्ण न कर सके।

३६ ३७ स्थिर व अस्थिर नामकर्म—जिसके उदय होने से सर्दी गर्मी आदि के लगने पर भी शरीर की धातु व उपधातुओं में स्थिरता रहे या न रहे।

३८ ३६ आदेय व अनादेय नामकर्म—जिसके उदय से शरीर प्रभा युक्त या प्रभाहीन हो।

४० ४१ यश कीर्ति व अयशकीर्ति नामकर्म—जिसके उदय से मनुष्य के गुण अथवा अवगुण की ख्याति हो।

४२ तीर्थंकरत्व नामकर्म—जिसके कारण मनुष्य अनुपम विभूति युक्त तीर्थंकर (अवतार) पद की प्राप्ति करे।

इस प्रकार नामकर्म के ४२ भेद होते हैं।

६—गोत्रकर्म के दो भेद होते हैं उच्च व नीच गोत्रकर्म।

७—आयुकर्म के चार भेद हैं अर्थात् देव आयु नरक आयु मनुष्य आयु व तिर्यञ्च आयु (मानो प्रत्येक गति सम्बन्धी आयु)।

८—वेदनीय कर्म के निम्नलिखित दो भेद होते हैं—

१ सातावेदनीय कर्म—जिसके कारण प्राणी को सुख की सामग्री प्राप्त होती है तथा शरीर नीरोग होता है।

२ असातावेदनीय कर्म—जिसके कारण प्राणी को दुःख उत्पन्न करनेवाली सामग्रियां प्राप्त हों एवं शरीर रोग-व्याधि से युक्त हो।

इस प्रकार उपर्युक्त आठ कर्मों के मुख्य ६७ भेद व उनके आगे ५८

अबाधा काल—उस काल को जो विवक्षित कर्म बन्धन के समय से लगाकर उसी कर्म के उदय (अर्थात् उसी कर्म के कार्यान्वित होने) तक होता है उसको अबाधा काल कहते हैं।

इसके अतिरिक्त इन कर्मों का वर्णन जैन ग्रन्थों में और भी भिन्न भिन्न दृष्टियों से किया है जिनके अध्ययन से कर्म सिद्धान्त का भाव भली भाँति समझ में आ जाता है। उन ग्रन्थों में प्रतिपादित कर्म-बन्धन के अध्ययन से अनुसन्धान द्वारा निश्चित किये हुए कर्म सिद्धान्त का स्वरूप अधिक स्पष्ट व विश्वसनीय हो जाता है।

करने पर १४८ उत्तर प्रकृतियाँ (भेद) होती हैं। इनका विशेष वर्णन गोम्मटसार ... सर्वार्थ सिद्धि राजवार्तिक आदि टीकाओं में

जाता है कि भौतिक पदार्थ अनादि काल से हैं। इनसे बने हुए पदार्थों की बाह्य अवस्था में परिवर्तन अवश्य होता रहता है, परन्तु इन पदार्थों के अन्तर्गत मूल तत्त्व कभी नष्ट नहीं होते हैं।

जीव द्रव्य भी—जैसा पूर्व में निश्चित किया जा चुका है—अनादि काल से है और अनेक योनियों में भ्रमण करता रहता है। इस प्रकार इस जगत के चेतन व अचेतन सभी पदार्थ अनादि काल से हैं और अनन्त काल तक रहेंगे। ऐसी दशा में इन चेतन व अचेतन समस्त पदार्थों के समूह जगत को भी अनादि काल से लगातार अनन्त काल-पर्यन्त विद्यमान रहता हुआ मानना होगा। इस प्रकार यह जगत अनादि काल से प्रवाह रूप चला आता हुआ अनन्त-काल-पर्यन्त रहेगा। ऐसी दशा में यह भी मानना होगा कि इसका निर्माण कभी नहीं हुआ है। इस जगत के सदैव विद्यमान रहते हुए भी इसमें सदैव परिवर्तन होते रहते और कभी-कभी परिवर्तन इतने प्रबल एवं व्यापी होंगे कि उनको क्रान्ति या प्रलय भी कहा जा सकेगा।

१

क्या सच्चिदानन्द-अवस्था प्राप्त की जा सकती है?

ससार का प्रत्येक प्राणी रोग में पीडित स्त्री-पुत्र आदि कुटुम्बी जनो के वियोग में व्यथित शत्रु आदि के सयोग से दुखित भोजन-वस्त्र आदि आवश्यक पदार्थों के अभाव से चिन्तित एव जरा-मरण-सम्बन्धी कष्टों से भयभीत दिखाई देता है। इन दुखो से मुक्त होने एव सुख प्राप्ति की कामना करता है। मनुष्य भ्रम से सुख को कभी एक वस्तु में कभी दूसरी वस्तु में समझ लेता है एव उनके प्राप्त करने में प्रयत्नशील होता है। इस भ्रान्ति एव भ्रम बुद्धि के कारण ही अनेक प्रकार के दुख को सहन करता है। सुख वास्तव में किसी वाह्य पदार्थ में निहित नही है यह तो स्वय आत्मा के भीतर विद्यमान है। आत्मा ज्ञान व आनन्द से ओत प्रोत है।[1] अतएव उस व्यक्ति को—जो वास्तविक सुख की आकांक्षा रखता है—अपने वास्तविक सच्चिदानन्द-स्वरूप की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना होगा।

आत्मा का यह ज्ञान आनन्दमय स्वरूप कर्म-परमाणुओं के समूह सूक्ष्म कार्माणशरीर से आच्छादित व विकृत हो रहा है। इसी कार्माणशरीर के कारण जीव अज्ञानी हुआ इस ससार में भ्रमण कर रहा है। कभी मनुष्य योनि धारण करता है। कभी हस्ति आदि पशु शुक आदि पक्षी कृमि आदि छोटे जन्तु आम आदि वृक्ष योनि में जन्म लेता है और अनेक प्रकार के कष्ट भोगता है। इसी कार्माणशरीर के कारण मनुष्य में काम क्रोध आदि अशुभ दया क्षमा आदि शुभ भावनाए होती हैं। यदि किसी प्रकार जीव इस कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाय अपनी आत्मा को बन्धन में रखनेवाले

[1] जैसा कि पहले आत्मा के वास्तविक स्वरूप 'आनन्द' में निश्चित किया गया है।

कामाणशरीर के जाल को नष्ट कर दे, तो इस जीव का वास्तविक स्वरूप प्रगट हो जायगा और यह जीव ससार के भ्रमण रोग-व्याधि, जन्म जरा मरण के दुख शोक आदि से मुक्त होकर सच्चिदानन्दस्वरूप में विराजमान हो जायगा। उसकी समस्त अप्रगट आत्मिक शक्तिया पूर्णतया विकसित हो जायगी। उसकी दिव्य ज्ञान ज्योति में समस्त पदार्थ अनन्त गुण व पर्याय सहित प्रतिभासित होने लगेंगे एव वह शुद्ध अलौकिक, दिव्य अनुपम आनन्द की अनुभूति में मग्न हो जायगा। इस प्रकार कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाना ही शुद्ध चिदानन्द अवस्था को प्राप्त करना है। अतएव वास्तविक सुख के मुमुक्षु जीव का उद्देश्य कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त होना ही निश्चित होता है।

यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस कर्म-बन्धन से मुक्त किस प्रकार हुआ जाय। कर्म सिद्धात शीर्षक अध्याय में निर्णय किया गया है कि मनुष्य मन वचन या शरीर द्वारा जो कार्य करता है उस कार्य करने के समय विद्यमान भावना के अनुसार सूक्ष्म परमाणुओं में कर्म फल देनेवाली शक्ति उत्पन्न हो जाती है और इन कर्म शक्तियुक्त परमाणुओं का सम्बन्ध आत्मा के साथ हो जाता है। जब कुछ समय पश्चात ये कर्म-परमाणु कार्य रूप में परिणत होते हैं अर्थात कर्म फल देते हैं तो इनका प्रभाव उस मनुष्य पर पड़ने लगता है उसकी बुद्धि व भावनाए उस कर्मफल के अनुसार हो जाती हैं। इन भावनाओं के अनुसार वह व्यक्ति फिर नवीन कार्य (कर्म) करता है जिनके अनुसार वह व्यक्ति फिर नवीन कर्मों के बन्धन में फसता है। इससे ज्ञात होता है कि मनुष्य की जो भावनाए इस समय विद्यमान हैं, वे पूर्व सचित कर्मों के फलस्वरूप हैं और वे पूर्व-सचित कर्म बधन होने के समय की विद्यमान भावनाओं के अनुसार बधे हैं। इस प्रकार भावना व कर्म की कारण कार्य रूप परम्परा का कभी अन्त नहीं होता। जबतक यह कारण-कार्य की शृंखला नहीं टूटती है तबतक कर्म-बन्धन से मुक्त किस प्रकार हुआ जा सकता है? यह एक जटिल समस्या है जिसका समाधान होना नितान्त आवश्यक है। इसके समाधान किये बिना, कर्म-बन्धन से मुक्त होने का मार्ग ढूढा नहीं जा सकता। उपरोक्त कथन से प्रतीत होता है कि मनुष्य कार्य करने में स्वतन्त्र नहीं है उसको अपने पूर्व-सचित कर्मों

के फल अनुसार कार्य करना पडता है। कार्य करने के समय जैसी उसकी भावनाए होती हैं उन्हीं के अनुसार फिर नवीन कर्म-बन्धन होता है। इस प्रकार ससार म उसका भ्रमण कभी समाप्त नहा होता।

ससार में ऐसी घटनाए भी प्रतिदिन होती रहती हैं जिनसे प्रतीत होता है कि मनुष्य म पुरुषार्थ-बल सकल्प शक्ति बुद्धि एव कार्य करने की स्वतन्त्रता भी कितने ही अशो में विद्यमान है। प्राय देखा जाता है कि जो मनुष्य अपने उद्देश्य की प्राप्ति म प्रयत्नशील रहते हैं, अनेक विघ्न व बाधाओ के उपस्थित होने पर भी निश्चित पथ स विचलित नहीं होते हैं वरन् जो द्विगुण उत्साह स अपने उद्देश्य की सिद्धि म लगे रहते हैं अन्त म उन पुरुषार्थी मनुष्यो क मनोरथ सफल भी हो जाते हैं। एक विद्यार्थी जो एम० ए० परीक्षा तक शिक्षा प्राप्त करने का दृढ सकल्प कर लेता है एव उसकी प्राप्ति के लिए अध्ययन करता हुआ प्रयत्नशील होता है अन्त म वह कुछ वर्षों के पश्चात् एम० ए० की परीक्षा म उत्तीर्ण होता हुआ दिखाई देता है। इसी प्रकार जब कोई मनुष्य इतिहास आदि किसी विषय में पारगत होने का दृढ सकल्प कर लेता है और अपने उद्देश्य के साधन म पुरुषार्थ पूर्वक लग जाता है तो वह मनुष्य कुछ काल के पश्चात्, उस विषय का पडित हो जाता है। इस प्रकार पुरुषार्थी मनुष्य अपने मनोरथ में सफल होता हुआ दिखाई देता है। कभी कभी यह भी देखा जाता है कि पुरुषार्थी मनुष्यों के मार्ग म ऐसी कठिनाइया आ जाती हैं या ऐसी परिस्थिति उपस्थित हो जाती है जिससे वे अपने मनोरथ म सफल नहीं होने पाते हैं। धन-सम्पत्ति को सुख का कारण समझकर उसकी प्राप्ति के लिए बहुत से मनुष्य सकल्प करते हैं एव उसके लिए भरसक प्रयत्न भी करते हैं। उनमे से कुछ मनुष्य विपुल धन-सम्पत्ति के स्वामी बनकर अपने मनोरथ म पूर्णतया सफल हो जाते हैं। कुछ थोडी-सी पूजी इकट्ठा कर पाते हैं और कुछ बिल्कुल निर्धन ही रह जाते हैं। इस विवेचन स स्पष्ट है कि मनुष्य का पुरुषार्थ एक महान् शक्ति है जो प्राय सफल हो जाती है और कभी-कभी निष्फल भी रह जाती है।

यह पुरुषार्थ मनुष्य की आत्मिक शक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई शक्ति नहीं है। पुरुषार्थ रहत [illegible] । होती है उसका बाह्य दृश्य

और कभी मन्द। यदि मनुष्य कर्म-बन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न निरन्तर उत्साह व दृढ़ संकल्प के साथ करता रहे तो उसकी आत्मिक शक्ति दिन पर दिन प्रबल होती हुई इतनी अधिक बलवती हो जायगी कि वह व्यक्ति कर्म शक्ति के विरुद्ध होते हुए भी अपने उद्देश्य व प्रयत्न में सफल हो जायगा।

यह प्रायः देखा जाता है कि कुछ व्यक्ति—जो अपने प्रारम्भिक जीवन में अत्यन्त कामी क्रोधी एवं दुराचारी थे—अन्त में शान्त संयमी व सत्यागी हो जाते हैं।[1] वे पुरुष—जो गृहस्थ अवस्था में इन्द्रिय-वासना की तृप्ति में ही लगे रहते हैं और जिन्हें नाना प्रकार के भोग विलास, विषय भोग के साधन जुटाने में ही आनन्द आता है—छोटी-छोटी शारीरिक पीड़ाओं से घबड़ा जाते हैं तनिक से कांटे के चुभने से रो पड़ते हैं पृथ्वी पर सोने में कष्ट प्रतीत करते हैं भोजन के अप्रिय व अस्वादिष्ट होने से कुपित होकर उसको फेंक देते हैं। जब उनका चित्त सांसारिक भोग-विलास से हट जाता है उनका दृष्टिकोण बदल जाता है एवं उनका ध्येय आत्म शुद्धि बन जाता है तब आत्म संयम व आत्म-चिन्तन के लिए वन का मार्ग लेते हैं। तपस्या द्वारा आत्म शुद्धि करने लगते हैं। पृथ्वी पर लेटने मच्छरों के काटने भूख-प्यास शीत उष्णता आदि शारीरिक कष्टों से उनके मन में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता है। वे शान्ति के साथ प्रसन्नता पूर्वक इन कष्टों को सहन करते हैं आत्म-अनुभूति से उत्पन्न हुआ आत्मिक आनन्द आने लगता है जिसके सामने सांसारिक सुख तुच्छ व हेय दिखाई देते हैं। उनके जीवन में इस विशेष परिवर्तन का कारण उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन आत्म सुधार का दृढ़ संकल्प एवं आत्म-शुद्धि व संयम की ओर पूर्ण पुरुषार्थ के साथ सतत प्रयत्न करना व आत्मिक आनन्द का आभास ही है।

---

[1] वाल्मीकि भारत में प्रसिद्ध ऋषि हुए हैं जिनके नाम को उनकी रचित संस्कृत रामायण ने अमर कर दिया है। प्रारम्भिक जीवन में श्री वाल्मीकि दुराचारी थे। उनका समय चोरी डाका डालने आदि में व्यतीत होता था। मनुष्य का प्राण ले लेना उनके लिए साधारण बात थी। अन्तिम काल में ऊंची श्रेणी के ऋषि व महापुरुष बन गये थे।

शुद्ध आत्म-स्वरूप—जो कर्म परमाणुओं से आच्छादित व विकृत हो रहा था—प्रगट हो जायगा। वह आत्मा एकदम अपने दिव्य-स्वरूप पूर्ण ज्ञान, दर्शन व वीर्य को प्राप्त कर लेगा एवं अलौकिक दिव्य आनन्द में सदा के लिए मग्न हो जायगा। कर्म-परमाणुओं के समूह कार्माणशरीर के सर्वथा नष्ट हो जाने से, संसार भ्रमण रोग-व्याधि आदि समस्त दुखों से सदा के लिए मुक्त हो जायगा।

२

चिदानन्द-स्वरूप प्राप्ति का मार्ग

यह निश्चय हो जाने पर कि आत्मा का शुद्ध चिदानन्द-स्वरूप प्राप्त किया जा सकता है यह जानना परमावश्यक है कि मुमुक्षु जीव किस मार्ग का अवलम्बन करे कि जिसपर चलकर वह अपने शुद्ध ज्ञान आनन्दमय स्वरूप को प्राप्त कर सके।

मुमुक्षु प्राणी के लिए आवश्यक है कि सबसे प्रथम छानबीन करके अपने वास्तविक स्वरूप का निश्चय करे। जबतक आत्मा निश्चित नहीं तबतक उसके (आदर्श के) प्राप्त करने का मार्ग कैसे ढूंढ़ा जा सकता है। इसलिए प्रयत्नपूर्वक दृढ़ता के साथ निष्पक्ष भाव से भिन्न भिन्न बातों का निर्णय करके अपने वास्तविक स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करे। जब उसको यह निश्चित हो जाय कि उसकी आत्मा पूर्ण ज्ञान से प्रकाशित एवं दिव्य आनन्द से भरपूर है उसका यह ज्ञान आनन्दमय स्वरूप उसके पूर्व संचित कर्मों से आच्छादित व विकृत हो रहा है जिसके कारण उसकी आत्मा अज्ञानी काम क्रोध आदि भावनाओं से युक्त अनेक प्रकार के दुःखों एवं चिंताओं से पीड़ित दीखता है यह कार्माणशरीर पूर्वकृत कार्यों के समय जो राग द्वेष रूप उसकी वृत्तियां थीं उनके कारण संचित हुआ है यह व्यक्ति काम क्रोध आदि समस्त भावना एवं वृत्तियों के त्यागने अर्थात् वीतराग होने से भविष्य में नवीन कर्म-बन्धन से मुक्त रह सकेगा और साथ ही-साथ पूर्व संचित कर्म बन्धन को नष्ट भी कर सकेगा इन पूर्व-संचित कर्मों के बंधन से मुक्त होने पर उसका शुद्ध स्वरूप—जो ज्ञान के तेज से प्रदीप्त है अलौकिक दिव्य आनन्द से ओत प्रोत है अनन्त शक्ति से युक्त है शांतिमय है—प्रकट हो जायगा। इन बातों की दृढ़ भावनाएं उसके हृदय में भली भांति अंकित हो जानी चाहिए। सन्देहात्मक भावों को—जो प्रायः हृदय में उठा करते हैं—विवेक बुद्धि, तीव्र आलोचना एवं हार्दिक पश्चात्ताप के अस्त्रों से भेदकर निकाल दे। उपरोक्त बातों का

सन्देहरहित श्रद्धान हृदय पटल पर भली भांति अंकित हो जाना चाहिए। शुद्ध विज्ञान ध्येय सन्दर्शन रहेगा उसकी प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्न शील रहे। श्रद्धा का दीप हृदय में सदा प्रज्वलित रहे। इसके प्रकाश बिना अज्ञान अन्धकार में मार्ग नहीं मिलता और पग-पग पर मार्ग से विचलित होना पड़ता। श्रद्धा का दीप हृदय में उस समय तक प्रज्वलित रहे जब तक उसका स्थान ज्ञान का प्रकाश नहीं ले लेता है।

मार्ग पर चलते हुए मुमुक्षु यात्री के हृदय में प्रायः भ्रम उत्पन्न होने लगता है विश्वास की नींव हिलने लगती है नाना प्रकार के प्रलोभन चित्त को आकर्षित करनेवाली मनोहर आकृतियां धारण करके उसके चित्त को डांवाडोल कर देते हैं। उसको भासने लगता है कि सांसारिक सुखों के त्यागने में उसकी भूलता की है ये सांसारिक भोग तो उसके लिए ही बनाये गये हैं। ऐसी दशा में उसकी एक मनोमयी स्थिति हो जाती है। ऐसी सन्देह व भ्रमात्मक स्थिति हो जाने पर उसको तीव्र विवेक-बुद्धि द्वारा आत्मस्वरूप वर्तमान स्थिति प्रतिमा ध्येय आदि की परीक्षा पुनः करनी पड़ती है। इस परीक्षा के करने पर उसका हृदय निर्मल हो जाता है उसका आदर्श अधिक स्वच्छ होकर पुनः उसके हृदय मंदिर में विराजमान हो जाता है भ्रम नष्ट हो जाता है और श्रद्धा का दीप पुनः द्विगुण प्रकाश से प्रज्वलित हो उठता है।

वह सत्पथ का यात्री पूर्व-संचित कर्म शक्ति को—जिसके कारण उसकी वर्तमान स्थिति ज्ञानहीन मलिन एवं विकृत हो रही है—नष्ट करने के लिए उद्यत होता है। काम क्रोध आदि कुवृत्तियां तथा अशुभ भावनाओं को—जिनके कारण नवीन कर्म-शक्ति उत्पन्न होती है—रोकने के लिए तत्पर होता है। ये कुवृत्तियां व अशुभ भावनाएं मनुष्य की अनेक प्रकार की इच्छाओं वासनाओं से उत्पन्न होती हैं। इनका रोकना सुगम ही नहीं वरन अत्यन्त दुष्कर है। ये वासनाएं हृदय-सागर में ज्वारतरंग की भांति उठा करती हैं मन की शान्ति को भंग करके उसे क्षुब्ध कर देती हैं। ये वासनाएं उसी समय रोकी जा सकती हैं जब मन नियंत्रित हो जाय उसकी चंचलता संयम के अंकुश द्वारा वश में कर ली जाय। वासना रोकने एवं मन को नियंत्रित करने के लिए आवश्यक है कि सत्पथ का यात्री

इन्द्रिय-जनित विषय-वासना को त्यागे। स्त्रियों के साथ भोग विलास करने मदिरा आदि मादक वस्तुए पीकर मदोन्मत्त होने, अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोजन करने की लालसा सुन्दर युवतियों के हाव भाव व पूर्ण गाना सुनने एव नाच देखने की इच्छा अनेक प्रकार के भड़कीले मडकीले मन को डांवा डोल करनेवाले वस्त्र पहिनना तथा इत्र फुलेल क्रीम (Cream) आदि अनेक सुगंधित एव सौन्दर्यवर्धक पदार्थों से शरीर को सुसज्जित करने की भावना को छोड दे। सारांश में उसको अपनी समस्त पाशविक वृत्तियो पर नियन्त्रण का अकुश लगाना पडेगा। शरीर को वश में रखने के लिए भोजन की मात्रा एव सख्या मे कमी करनी होगी। कभी-कभी उपवास करना होगा। श्रम को मिटाने के लिए शरीर को आवश्यक आराम देते हुए निद्रा आदि का समय नियत करना होगा। आलस्य व प्रमाद को अपने से दूर रखना होगा। दैनिक व्यवहार में छल-कपट दूसरो को धोखा देना, असत्य बोलना आदि छोडना होगा। अपनी इच्छाओ को सीमित रखने के लिए आवश्यक पदार्थों की सख्या मात्रा आदि में भी परिस्थिति के अनुसार नियम बनाने होगे। इस प्रकार प्रयत्न व अभ्यास करते रहने से उसकी क्षुद्र वृत्तिया निर्बल पड जायगी तथा अशुभ भावनाए लुप्त होने लगेंगी। इन क्षुद्र वृत्तियों के निर्बल होने के साथ-साथ उसके हृदय में दया, प्रेम परोपकार शान्ति नम्रता निर्भयता आदि सद्गुणों का भी प्रादुर्भाव होगा।

सत्पथ के यात्री के मार्ग में प्रलोभन आकर कभी-कभी चट्टान की भांति खडे हो जायगे। वासनाए व इच्छाए सुगमता से परास्त नही होंगी। उनके साथ बार बार सग्राम करना पडेगा। ये बार-बार नाना प्रकार के सुन्दर आकर्षक रूप बनाकर उसको नचायेंगी और उसको भ्रम मे डालकर सन्मार्ग से विचलित करने का प्रयत्न करेंगी। जब कभी—जहा कही—अवसर मिलेगा ये वासनाए अप्रत्यक्ष आघात करेंगी और उसको सत्पथ से भ्रष्ट करने का उद्योग करेंगी। ऐसे कठिन अवसरो पर आदर्श के प्रति अटूट श्रद्धा का प्रज्वलित दीप उसके पथ को प्रकाशित रखेगा और वासना के लुभानेवाले प्रलोभनो से उसकी रक्षा करेगा। इस कण्टकाकीर्ण मार्ग से निरन्तर चलने पर, उसमे आत्मशक्ति आत्म विश्वास साहस निर्भयता, आदि सद्गुणों का विकास अधिकाधिक होता जायगा।

सच त्या क्षमा नम्रता सरलता उदारता आदि उच्च भावनाओं का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। ज्ञान के प्रकाश से उसकी अन्तरात्मा प्रदीप्त होने लगती है उसके हृदय सागर में दिव्य अलौकिक आनन्द की लहरें, एक के बाद दूसरी उठने लगती हैं और वह अपनी आत्मा में अपूर्व स्फूर्ति व आह्लाद अनुभव करता है। उसका हृदय निर्मल उदार व विशाल हो जाता है और विश्व प्रेम ज्ञान एव आनन्द में ओत प्रोत हो जाता है। ऐसी स्थिति में शरीर से ममत्व कम हो जाता है। मोह के क्षीण होने से व्यापार आदि सासारिक कार्य उसको भारभूत प्रतीत होने लगते हैं। स्त्री पुत्र मित्र गृह धन धान्य आदि वस्तुओं में चित्त हट जाता है एव साम्य भाव की प्राप्ति हो जाती है। गृह में निर्ममत्व होकर जल में कमल की भांति अलिप्त रहता है अथवा गृह त्यागकर सन्यासी जीवन व्यतीत करने लगता है। निर्ममत्व दशा की महिमा तत्त्वज्ञानतरंगिणी में निम्नलिखित शब्दों में की है—

निर्ममत्व परं तत्त्व ध्यान चापि व्रत सुख।
शील स्वरोधन तस्मान्निर्ममत्वं विचिन्तयेत ॥

अर्थात निर्ममत्व होना महान तत्त्व है यही ध्यान व्रत सुख शील एव इन्द्रिय निरोध है इसलिए निर्ममत्व के भाव का सदा चिन्तन किया जाय। निर्मोही की दशा साम्य स्थितप्रज्ञ सदृश हो जाता है। भगवद्गीता (२-५५,५६ ५७ ५८ ७१) में स्थितप्रज्ञ की स्थिति निम्न प्रकार बतलाई है—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान।
आत्मन्येवात्मना तुष्ट स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥
दु खेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृह ।
वीतरागभयक्रोध स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥
य सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥
यदा सहरते चाय कूर्मोऽगानीव सर्वश ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

विहाय कामान्य सर्वान्पुमांश्चरति नि स्पृह ।
निर्ममो निरहङ्कार स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

अर्थात्, हे पार्थ (अर्जुन) ! जब कोई मनुष्य अपने मन म उत्पन्न हुई समस्त वासनाओं को त्याग देता है और अपने आप ही म सन्तुष्ट होकर रहता है उसको स्थितप्रज्ञ कहते हैं। दुख से जिसके मन को खेद नहीं होता है सुख में जिसकी आसक्ति नहीं है और जिसके राग भय क्रोध नष्ट हो गये हैं, उसको स्थितप्रज्ञ मुनि कहते हैं। सब बातों म जिसका मन आसक्ति रहित हो गया है और जिसको यथाप्राप्त शुभ अथवा अशुभ वस्तु मे प्रसन्नता या विषाद नही होता है उसकी बुद्धि को स्थिर कहा जाता है। जिस प्रकार कछुआ अपने हस्त-पाद आदि अंगों को सब ओर से सिकोड़ लेता है उसी प्रकार जब कोई मनुष्य अपनी इन्द्रियों को भोग विलास आदि (इन्द्रियों के) विषयों से हटा लेता है तब उसकी बुद्धि को स्थिर कहा जाता है। जो पुरुष सब प्रकार की कामनाओं को त्याग देता है एव नि स्पृह होकर व्यवहार करता है तथा जो ममत्व व अहंकार से विमुक्त है, उसे ही शान्ति मिलती है। इस साम्य स्थिति के सम्बन्ध म श्री अमितगति आचार्य ने सामायिक पाठ' म कहा है —

दुखे सुखे वैरिणि बन्धु वर्गे
योगे वियोगे भवने वने वा।
निराकृता शेष ममत्व बुद्धे,
सम मनो मेऽस्तु सदापि नाथ ॥

अर्थात्—'हे नाथ ! समस्त मोह-ममता को नष्ट करके, ऐसी साम्य स्थिति मेरे हृदय को प्रदान करो कि जिससे मैं सुख व दुख म शत्रु व मित्र म लाभ व हानि म गृह व वन मे एक ही समान रहूं।

उस साम्य स्थिति के सम्बन्ध मे शुभचन्द्र आचार्य ने श्री ज्ञानार्णव के चतुर्विंश प्रकरण में कहा है —

मोहवह्निमपाकर्तु स्वीकर्तु संयमश्रियम्।
छेत्तु रागद्रुमोद्यान समत्वमवलम्ब्यताम् ॥१॥
चिदचिल्लक्षणर्भावैरिष्टानिष्टतया स्थित ।
न मुह्यति मनो यस्य तस्य साम्ये स्थितिर्भवेत् ॥२॥

होती जाती है उसके अव्यक्त ज्ञानानन्द स्वभाव का प्रकाश बढता जाता है। धैर्यपूर्वक प्रयत्न करते-करते ऐसा समय इस या आगामी जीवन में आ जाता है कि जब उसके समस्त घाति कर्म परमाणुओं का बन्धन टूट जाता है। सम्पूर्ण घाति कर्म शक्ति नष्ट हो जाती है। इस घाति कर्म शक्ति के नष्ट होते ही वह अपने शुद्ध स्वरूप पूर्ण दर्शन, ज्ञान आनन्द व वीर्य से जगमगा उठता है। वह आत्मा जीवन्मुक्त होकर पूर्ण आनन्द से ओत प्रोत हो जाता है एवं उस दिव्य अनुपम अलौकिक आनन्द का आस्वादन करता हुआ उसमें मग्न हो जाता है। उसकी दिव्य ज्ञान-ज्योति में संसार के समस्त पदार्थ उनके सब गुण एवं उनकी समस्त अवस्थाएं झलकने लगती है। विश्व प्रेम से प्रेरित होकर उसकी दिव्य वाणी का संचार होता है जिसे सुनकर संसार के प्राणियों की मोह निद्रा भंग हो जाती है एवं वे सन्मार्ग पर लगते हैं।

आयु तथा अन्य अघाति कर्मों के नष्ट हो जाने पर सूक्ष्म कार्माण शरीर छिन्न भिन्न हो जाता है इस सूक्ष्म कार्माणशरीर के नष्ट भ्रष्ट होते ही बाह्य भौतिक शरीर से भी सम्बन्ध छूट जाता है। वह जीवन्मुक्त आत्मा कृतकार्य होकर परमात्म अवस्था को प्राप्त हो जाता है और संसार के उच्च भाग में जाकर विराजमान हो जाता है। वहां वह अपने शुद्ध चिदानन्द स्वरूप में मग्न होकर अनन्त काल तक दिव्य अनुपम अलौकिक आनन्द सुख को भोगता रहता है एवं उसकी दिव्य ज्ञान ज्योति में संसार के समस्त पदार्थ आलोकित होते रहते हैं। कर्म-शक्ति के पूर्णतया नष्ट एवं सूक्ष्म कार्माणशरीर के सर्वथा छिन्न भिन्न हो जाने पर, ऐसी कोई शक्ति नहीं रहती है जो उस परमात्मा के शुद्ध ज्ञान आनन्द स्वरूप में विघ्न डाल सके या उसमें राग द्वेष आदि विभाव उत्पन्न कर सके। इसलिए वह मुक्त आत्मा अपने शुद्ध चिदानन्द-स्वरूप में सदा के लिए मग्न हो जाता है।

३

निवृत्ति-माग

मानव-समाज के विकास मनुष्य के जीवन निर्वाह स्त्री पुत्र आदि कुटुम्बी जना की रक्षा व भरण पोषण समाज व राष्ट्र की सुव्यवस्था रक्षा आदि बातो को दृष्टि म रखने स उपरोक्त स माग को दो भागो म विभक्त किया जा सकता है—

(क) गहस्थ-माग—वह माग जो मानव समाज के उन समस्त मनुष्यो क लिए उपयोगी है, जो व्यापार आदि करके धनोपाजन करते हैं विवाह करके पत्नी-सन्ति घर में रहते हुए सासारिक सुखो का उपभाग करते हैं सन्तान उत्पन्न करके सष्टि क्रम को जारी रखत हैं स्त्री-पुत्र आदि का पोषण करत हैं जिन्ह आमोद प्रमोद क कार्यों म आनन्द आता है जिनका हृदय विषय-वासना की तप्ति से हटा नहीं है तथा जो समाज एव राष्ट्र की शिक्षा रक्षा सुव्यवस्था आदि कार्यों म लगे हुए हैं।

(ख) सन्यास माग—वह माग जो उन मनुष्यो के लिए श्रयस्कर है जिनका हृदय ससार की दुखमयी चिन्तायुक्त परिवतनशील एव सभय पूण अवस्था स हट गया है मोह व ममता के नष्ट हो जाने से जिन्होंने स्त्री पुत्र गह धन धान्य व्यापार आदि सांसारिक कार्यो स अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया है एव जो आत्म स्वरूप की वास्तविक स्थिति जानने वाले आनन्दमय शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक हैं जिन्होने काम क्रोध आदि तुच्छ वत्तियों को त्याग दिया है तथा इन क्षुद्र वत्तियो के नाश हो जाने से जिनके हृदय म दया प्रेम आदि उच्च वत्तियो का प्रादुर्भाव हो गया है। इस प्रकार मनुष्य की परिस्थिति मानसिक स्थिति एव विकास पर दृष्टि डालने स, स माग के उपराक्त दो भेद हो जाते हैं जिनका सक्षिप्त वणन निम्न प्रकार किया जा सकता है—

१ गहस्थधम (पच अणुव्रत)—शुद्ध चिदानन्द स्वरूप प्राप्ति माग क उपरोक्त विवेचन मे निम्नलिखित पाच नियम उद्धृत किये जा सकते है।

इन नियमों के यथापूर्वक पालन करने से गृहस्थ, मुमुक्षु जीव अपने उद्देश्य की प्राप्ति कर सकता है—

१ अहिंसा व्रत—मानव व पशु-समाज के किसी प्राणी को भी कष्ट न दे, न ऐसा वचन बोले जिसमें किसी प्राणी को दुःख हो और न किसी प्राणी का अहित विचारे। मुमुक्षु जीव को इस प्रकार व्यवहार करना चाहिए कि जिससे न किसी मनुष्य या प्राणी का प्राण संहार हो और न किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक कष्ट ही पहुँचे। संसार में रहकर जीवन निर्वाह के हेतु व्यापार आदि कार्य करने में सब प्रकार की हिंसा से बचना मनुष्य के लिए असम्भव है बहुत से कृमि कीट आदि छोटे-छोटे जन्तुओं की हिंसा प्रति दिन हुआ करती है जैसे—

(क) आरम्भिक हिंसा—भोजन बनाने आग जलाने गमन करने आदि आरम्भिक कार्यों में बहुत से छोटे छोटे जीवों की—जिनमें से कितने ही दिखाई भी नहीं देते हैं—हिंसा हुआ करती है जिससे सर्वथा बचना गृहस्थ के लिए असम्भव है।

(ख) औद्योगिक हिंसा—कृषि आदि व्यवसायों में बहुत से छोटे-छोटे जीवों की हिंसा हुआ करती है। इन छोटे छोटे जीवों की रक्षा करना असम्भव है। कृषि व्यापार उद्योग आदि बिना, जीवन निर्वाह हो नहीं सकता इसलिए उपरोक्त प्रकार की हिंसा अनिवार्य है।

(ग) विरोधी हिंसा—मनुष्य को अपनी और स्त्री पुत्र आदि कुटुम्बी जनों की समाज व राष्ट्र की डाकू लुटेरे शत्रु आदि विरोधी प्राणियों से रक्षा करनी पड़ती है। ऐसी दशा में उत्तम बात तो यह है कि मनुष्य अपनी आत्मिक शक्ति द्वारा शांति के साथ शत्रुओं ...

देकर अपने आश्रित जनों की रक्षा करे। ...

साथ आत्मिक शक्ति द्वारा प्रतिरोध करने की

लिए उचित है कि शस्त्रों ...

आक्रमण का प्रतिरोध करे।

राष्ट्र की रक्षा करने में

गृहस्थ अहिंसा अणुव्रत का

हिंसा करने की ... है।

शत्रु व शत्रुओं के आक्रमण होने पर भय से कम्पित होकर भाग जाना इत्यादि उचित नहीं है। भय मानसिक दुर्बलता है इसको अपने पास भी नहीं आने देना चाहिए। इस प्रकार गृहस्थ मनुष्य के लिए उपरोक्त आरम्भिक औद्योगिक एवं विरोधी हिंसाएं अनिवार्य हैं। गृहस्थी कभी भी उपरोक्त प्रकार की हिंसा करने का इच्छुक नहीं होता है। उसकी भावना तो सदा यही रहती है कि किसी प्रकार की भी हिंसा न हो न किसी प्राणी को कष्ट पहुंचे। प्रत्येक काम को सावधानी से करता है कि जिससे क्षुद्र जीवों की भी हिंसा बिल्कुल न हो या कम-से कम सम्भव हो। हिंसा की भावना के विद्यमान न होने से वह गृहस्थी हिंसा के पाप का भागी नहीं होता क्योंकि भावना ही कर्म-बन्धन का कारण है। हिंसा आदि अशुभ भावना से अशुभ कर्मों का बन्धन होता है और भावना रहित शुद्ध वीतराग अवस्था में किसी भी कर्म का बन्धन नहीं होता है।

(घ) संकल्पी हिंसा—उपरोक्त हिंसाओं के अतिरिक्त मनुष्य का कर्तव्य है कि विचार संकल्प द्वारा या प्रमाद-वश कभी किसी प्राणी का जीवन नष्ट न करे। अपने स्वाद या शौक के लिए किसी पशु या पक्षी को न मारे न उनका शिकार करे न मांस भक्षण करे और न ऐसी वस्तुओं का—जो पशु-पक्षी आदि वस्तुओं के मारे जाने से बनती हैं[1]—उपयोग

[1] १ चमड़े का प्रयोग में अधिक लाना उचित नहीं है चमड़े के हेतु बहुत से पशु मारे जाते हैं। केवल उस चमड़े के—जो स्वयं-मृत पशु से प्राप्त होता है—जूते आदि का प्रयोग में लाया जाना ठीक कहा जा सकता है।

२ बहुत से पक्षियों के प्राण उनके सुन्दर परों के लिए हरण किये जाते हैं इसलिए अहिंसा प्रेमी सज्जनों को उचित है कि इन परों को प्रयोग में न लावें न यूरोपवासी महिलाएं इन परों को अपने टोप में लगावें।

३ रेशम को भी प्रयोग में लाना उचित नहीं है क्योंकि इसके तैयार करने में लाखों कीड़ों के प्राण पानी में उबालकर लिये जाते हैं। कीड़ों के प्राण ले लेने के पश्चात रेशम के कोयों से रेशम के तार उतार लिये जाते हैं।

करे। शरीर रक्षा के लिए अन्न, दुग्ध घृत, फल शाक आदि वनस्पति[1] पर ही निर्भर करे। उसके लिए उचित है कि किसी मनुष्य पशु पक्षी, जलचर कीट आदि जन्तु को न सताय, न उनके साथ कठोरता का वर्ताव करे न उनका अहित विचारे। सेवक सचिवादि आदि आश्रित जनों के साथ क्रूरता का व्यवहार न करे। किसानों के प्रति कठोर वर्ताव करना या उनसे इतना अधिक भूमि-कर लेना जिसके देने पर उनका जीवन निर्वाह भी न हो सके उचित नहीं है। न मजदूरों से इतना अधिक या इतनी देर तक काम लेना उचित है कि जिससे उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाय। इसी प्रकार ऋण पर इतना अधिक व्याज लेना कभी भी उचित नहीं ठहराया जा सकता जो न्याय मनुष्यता भ्रातृभाव के विरुद्ध हो और जिसे व्याज के न देने पर ऋणी तथा उसके कुटुम्बी जन के निर्वाह के साधन ही नष्ट हो जाय। गाड़ी टमटम आदि वाहनों में चलनेवाले बैल व घोड़ा के साथ भी दयापूर्ण वर्ताव किया जाना चाहिए उनपर अधिक बोझा लादना या शक्ति से अधिक दूर तक ले जाना कदापि ठीक नहीं है।

२ सत्यव्रत—मन्द सत्य वचन कहना उचित है। अपने आर्थिक आदि लाभ के लिए दूसरों को धोखा देना या इस प्रकार कहना, सकेत करना या चुप रहना—जिससे दूसरे मनुष्यों को भ्रम हो जाय या वे अन्यथा प्रकार समझ जाय—असत्य आचरण है। यदि सत्य कहने से कोई कष्ट आय

---

[1] पुनर्जन्म शीर्षक अध्याय की टिप्पणी में यह दिखलाया गया है कि वृक्ष आदि वनस्पति में भी जीव है। वृक्ष आदि वनस्पति में, मनुष्य पशु पक्षी आदि प्राणियों की अपेक्षा चेतना आदि आत्मिक शक्तियों का विकास बहुत कम है। जीवित रहने के हेतु मनुष्य के लिए आवश्यक है कि किसी न किसी प्रकार का भोजन किया जाय, इसलिए यह उचित ही है कि मनुष्य पशु पक्षी जलचर आदि प्राणियों का—जिनमें ज्ञान आदि आत्मिक शक्तियां अधिक विकसित हैं एवं जिनके प्राण लेने में अपने परिणाम भी अधिक कठोर होते हैं—भक्षण न करे। जीवन निर्वाह के लिए आत्मिक शक्तियों में सबसे कम विकसित वनस्पति पर ही संतोषित रहे। वृक्ष व [illegible] भी आवश्यकता से अधिक कष्ट न दे न उनको नष्ट करे।

होना है तो ऐसा सत्य भाषण भी उचित नहा है। यदि किसी सत्य बात के कह देने मे किसीके घर व तह तथा आपस म मार-पीट होने की आशका हो ता एसी सत्य बात का कहना कभी भी उचित नहा कहा जा सकता। इसी प्रकार यदि कोई चोर डाकू या अन्य व्यक्ति किसी व्यक्ति के धन अपहरण करने क हेतु उस व्यक्ति के घर का भेद लेना चाहे और अपने दुष्ट अभिप्राय को छिपाकर मीठी मीठी बातें बनाय तो ऐसी अवस्था म उससे सत्य कहना कभी भी उचित नही कहा जा सकता। ऐसे अवसरा पर मौन धारण करना ही न्याययुक्त है। दूसर मनुष्यों के गौरव कम करने या अपयश फैलाने क हेतु उनक गुप्त दोषा का प्रकट करना या अन्य प्रकार की बुराई करना अनुचित है। परन्तु यदि समाज या राष्ट्र के किसी उत्तर दायी पद पर किसी दुष्ट मनुष्य की नियुक्ति का प्रश्न है या उस मनुष्य के द्वारा राष्ट्र का किसी प्रकार की हानि पहुचने की सभावना है यदि उस समय उसकी दुष्टता प्रकट नही की जाती तो राष्ट का अहित होगा ऐसी दशा म समाज के लाभाथ उसक गुप्त दोष एव दुष्ट अभिप्राय को प्रकट करना कभी भी अनुचित नही ठहराया जा सकता। अन्य मनुष्यों म कठोर वचन हृदय भेदी शब्द कहना या गाली देना अनुचित है। वचन सदव हित मिष्ट एव सत्य होने चाहिए। सत्यव्रती के लिए उचित है कि वह सदा सत्य की खोज कर प्रत्येक बात पर निष्पक्ष बुद्धि म विचार एव मनन करे सत्य के लिए बड स बड़ा त्याग करने के लिए तत्पर रह जो सत्य प्रतीत हो उसको अगीकार कर जो विचार धारणाए असत्य मालूम हो उनको त्याग दे।

३ अचौर्य व्रत—स्वार्थ-वश अन्य व्यक्तियो के धन आदि पदार्थों का अपहरण करना निन्दनीय चौर्य कर्म है। यदि कोई सम्पत्ति या वस्तु गुम हो जाय उस वस्तु को हड़प कर लेना या थोडा देना भी चोरी म सम्मिलित है। चोरी किय हुए भूषण आदि वस्तुओं को थोड म मूल्य म ले लेना भी चोरी ही है। दूसरे मनुष्यों को चोरी करने की प्रेरणा करना उत्तेजना देना चोरी डाके आदि कार्यों की प्रशसा करना सवथा अनुचित है। दूसरे व्यक्ति की वस्तुओं ... धोखा देकर या बहकाकर ले लेना भी इस अचौर्य व्रत ... किसी अन्य व्यक्ति की अज्ञानता ... उसकी बहुमूल्य वस्तु को कम मूल्य

ले लेने म भी स्य व्रत म दूषण आता है। अनुचित लाभ उगाने के लिए, चुंगी स बचने क लिए छिपाकर वस्तु को नगर म लाना चुंगी के अफसरों को बनावटी बीजक दिखाकर कम चुंगी देना बनावटी बही-खाता दिखला कर इन्कमटैक्स अधिकारी से कम इन्कमटैक्स नियत कराना, रेल म बिना टिकट सफर करना या नीची श्रेणी का टिकट लेकर ऊंची श्रेणी के डिब्बे म बैठ कर जाना बढ़िया श्रेणी की वस्तु म घटिया श्रेणी की वस्तु मिला देना, छोटे गज स नाप देना तोल म कम दे देना आदि सभी चोरी कर्म में सम्मिलित हैं। मुमुक्षु जीव क लिए उचित है कि वह अन्य व्यक्तियों के धन या वस्तु का बिना उनकी सम्मति क ले लेने की भावना को भी हृदय म न लावे।

४ ब्रह्मचर्य अथवा स्वदारा सतोष व्रत—सबसे उत्तम बात यह है कि मनुष्य पूर्ण ब्रह्मचारी रहे किसी स्त्री क साथ काम-सेवन न करे न काम वासना को हृदय म स्थान दे अपने मन पर नियन्त्रण रखे। पूर्ण ब्रह्मचारी होना साधारण गृहस्थ के लिए कठिन है इसलिए गृहस्थ के लिए उचित है कि वह अपनी काम-वासना को अपनी विवाहिता स्त्री तक सीमित रखे। अपनी विवाहिता स्त्री क अतिरिक्त अन्य किसी स्त्री स—चाहे वह विवाहिता हो या अविवाहिता गृहस्थिन हो या वेश्या काम-सेवन न करे। स्त्री या लड़की के साथ अनंग क्रीड़ा करना व्यभिचार स भी अधिक निंद्य एव दूषित है। पर स्त्री के साथ अश्लील हास्य करना मनोरम अंग देखना, रमने की कामना हृदय म लाना आसक्त होना आदि ब्रह्मचर्य व्रत के विरुद्ध हैं। अपनी विवाहिता स्त्री को भोग-उपभोग की सामग्री समझकर उसके साथ रात्रि दिवस भोग विलास म रत रहना भी कभी उचित नहीं कहा जा सकता। इसलिए मुमुक्षु जीव का कर्तव्य है कि कामवासना को वश म करे। जहां तक सभव हो सके उतना कम अपनी धर्मपत्नी क साथ रमण करे। अच्छा तो यह है कि केवल संतान उत्पत्ति के हेतु, मासिक धर्म के पश्चात अपनी धर्मपत्नी के साथ भोग करे। ब्रह्मचर्य-व्रती के लिए उचित है कि वह अपनी आत्मिक शक्ति एव परिस्थिति पर भली भांति विचार करके अपने जीवन-पर्यन्त या किंचित काल के लिए, अपनी स्त्री से भी भोग करने के नियम बना ले। इन नियमों से उसको ब्रह्मचर्य

व्रत पालन में बड़ी सहायता मिलेगी।

ब्रह्मचर्य व्रतधारी मनुष्य के लिए उचित है कि मद्य मांस आदि मादक वस्तु एवं तामसिक भोजन का—जिससे उसकी विवेक बुद्धि में न्यूनता या काम वासना को उत्तेजना मिलती हो—त्याग करे। उसके लिए उचित है कि वह सन्तुलित नियमानुसार सात्विक भोजन ही किया करे। ब्रह्मचर्य व्रती के लिए कामोत्तेजक करनेवाली स्त्रियों का तथा मुनष्य एवं कन्या अभिचारी स्त्री-पुरुषों की संगति करने, कामोत्तेजना-वर्धक नाच रंग थियेटर सिनेमा आदि तमाशों में सम्मिलित होना उपयुक्त नहीं है न उसके लिए एसा शृंगार करना या चटकीले भड़कीले आभूषण पहनना ही उचित है जिससे स्वयं या अन्य दर्शक गण के मन में विकार उत्पन्न हो। यदि ब्रह्मचर्य-व्रत की धारणा करनेवाली स्त्री हो तो उसको भी उपरोक्त प्रकार का ही आचरण करना चाहिए।

५ परिग्रह प्रमाण व्रत—संसार के प्रत्येक मनुष्य में अनेक प्रकार की वासना एवं इच्छाएं होती हैं। इन वासनाओं की तृप्ति के लिए मनुष्य भोग उपभोग की नाना प्रकार की सामग्रियाँ एकत्रित करके परिग्रह बढ़ाता है। इन सामग्रियों के जुटाने के लिए धन की आवश्यकता होती है। धन को प्राप्त करने के लिए व्यापार आदि कार्य करता है। व्यापार आदि कार्य करने में अन्य मनुष्यों के साथ प्रतियोगिता करनी पड़ती है जिससे प्रायः दूसरों के स्वत्वों पर भी आक्रमण हो जाता है। अन्य मनुष्यों के साथ संघर्ष होने से उसे एवं अन्य मनुष्यों को अनेक प्रकार की चिन्ता व कष्ट उठाने पड़ते हैं जिनसे उसके भाव कलुषित होते हैं और उसको विवश होकर नवीन कर्मों के बन्धन में पड़ना पड़ता है। जितनी जितनी मनुष्य की वासनाएं अधिक होंगी उनकी तृप्ति के लिए उतनी ही अधिक सामग्रियां एकत्रित एवं धन-संचय की आवश्यकता होगी उतनी ही अधिक प्रतियोगिता अन्य मनुष्यों के साथ करनी पड़ेगी एवं उतनी ही अधिक चिन्ता व कष्ट भोगने पड़ेंगे। मुमुक्षु जीव के लिए उचित है कि अपनी वासनाओं को नियमित करने के लिए अपनी एवं अपने आश्रित स्त्री पुत्र आदि कुटुम्बी जनों की आवश्यकताओं का ध्यान में रखकर जीवनपर्यन्त या कुछ अवधि के [illegible] बना ले कि भोग उपभोग की सामग्रियां अधिक

से अधिक वह कितनी कितनी रखेगा स्थावर व जगम सम्पत्ति किस सीमा तक रख सकेगा तथा किस सीमा तक वार्षिक आय को अपनायेगा। अपन इच्छाओं को अधिक नियंत्रित व कम करने के हेतु परिवार के अतिरिक्त अपने निजी व्यक्तित्व के प्रयोग के लिए भी भोजन-वस्त्र आदि आवश्यक पदार्थों के ग्रहण करने के नियम बना ले। इस प्रकार भोजन वस्त्र धन सम्पत्ति गृह आदि परिग्रह को परिमित करने से उसकी कामनाएं नियंत्रित हो जायगी। उसकी इच्छा निर्धारित सीमा का उल्लंघन करके सीमा से बाहर वस्तुओं के ग्रहण करने की न होगी। इन इच्छाओं के सीमित होने से शांति उसके हृदय में विराजमान होगी और वह सत्पथ की ओर अग्रसर बढ़ेगा यदि निर्धारित सीमा से अधिक धन व सम्पत्ति संयोग से प्राप्त हो जाय तो निर्धारित सीमा से अधिक आय हो तो उस अधिक सम्पत्ति व आय को अपनाते नहीं वरन परोपकार के काय में लगा देते हैं।

उपरोक्त अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य एव परिग्रह-परिमाण इन पांच व्रतों का वर्णन गृहस्थ की मानसिक शक्तियों के विकास एव उसकी परिस्थिति ध्यान में रख कर किया गया है। संन्यासी व साधु की मनोवृत्ति व स्वाभाविक गुणों के विकास को दृष्टि में रखने से उपरोक्त पच व्रतों के स्वरूप में कितना ही परिवर्तन हो जाता है। साधु के व्रतों को महाव्रत और गृहस्थ के व्रतों को अणुव्रत कहना अनुचित न होगा।

(ख) संन्यासधर्म (पंचमहाव्रत)—महाव्रतों का वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

१ अहिंसा महाव्रत—साधु किसी प्रकार की भी हिंसा किसी दशा में भी, नहीं करते हैं न कोई ऐसा काय करते हैं न ऐसा मन्त्र ही मानते हैं जिससे दोना या अन्य किसी जीव को किसी प्रकार का कष्ट पहुच और न कभी किसी जीव का अहित विचारते हैं। जीवन निर्वाह के हेतु किसी प्रकार का व्यवसाय नहीं करते हैं। कृषि आदि व्यवसाय के त्याग देने से उद्योग सम्बन्धी कृमि कीट आदि छोटे छोटे जन्तुओं की हिंसा से बच जाते हैं। व्यापार छोड देने से व्यापार सम्बन्धी प्रबन्ध एव प्रतियोगिता से उत्पन्न चिन्ताएं व कष्ट—अपने तथा अन्य मनुष्यों को होते थे—बन्द हो जाते हैं। उदर पूर्ति के लिए न भोजन बनाते,

न अग्नि जलाते, न अन्य कोई पाप करते हैं इसलिए भोजन-सम्बन्धी सब प्रकार की हिंसा उनसे दूर रहती है। शरीर को आश्रित रखने के लिए भिक्षावृत्ति स्वीकार करते हैं। आत्मोन्नति में रत साधु प्रायः नगर, ग्राम आदि बस्ती से बाहर रहते हैं भोजन के लिए दिन में एक बार नगर या ग्राम में आते हैं और भिक्षा द्वारा सात्त्विक भोजन प्राप्त करके खाते हैं। मार्ग में पृथ्वी को देखते हुए चलते हैं कि कहीं प्रमाद से कोई जीव उनके पैरों के नीचे दबकर मर न जाय न कष्ट पाय। ज्ञानोपकरण पुस्तक कमण्डलु आदि उपकरण जीव शून्य स्थान में रखते हैं। इस प्रकार भोजन गमन आदि में किसी आरम्भिक हिंसा का दोष उन्हें नहीं लगता है।

यदि कोई मनुष्य पशु कीट-पतंग आदि उनके शरीर को किसी प्रकार का कष्ट पहुँचावे तो उसको धैर्यपूर्वक सहन करते हैं। यदि कोई मनुष्य या पशु उनपर आक्रमण करे उनके शरीर को तलवार लाठी पत्थर आदि से छिन्न-भिन्न या अंग-भंग करके प्राण भी ले ले तो भी आक्रान्ता मनुष्य या पशु पर आक्रमण करने के हेतु न वार करते हैं न स्थान छोड़कर भागते हैं न उनसे दीनतापूर्वक प्राणदान की याचना करते हैं न उनको कठोर वचन आदि कहते हैं वरन् आई हुई आपत्ति एवं कष्ट को आत्मशक्ति द्वारा शान्तिपूर्वक सहन करते हैं अपने मन को चंचल व्याकुल नहीं होने देते हैं न मन में उनसे क्रोधित होते हैं न द्वेष न उनका अहित मन में विचारते हैं। यदि कोई व्यक्ति उनको दुराचारी कपटी पाखण्डी मूर्ख ढोंगी आदि अपशब्द व गाली दे तो उनको सुनकर न मन में दुःखित होते हैं और न अपने तप ज्ञान त्याग आदि कार्यों की प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होते हैं। सुख दुःख योग वियोग लाभ हानि शत्रु मित्र गृह-वन आदि प्रत्येक अवस्था में साम्य बुद्धि रखते हैं। मन में समस्त मानव व प्राणि-समाज के हित की बात विचारते हैं एवं उनको कल्याण पथ पर चलने के लिए अपने सदुपदेश व आदर्श जीवन के द्वारा प्रेरित व उत्साहित करते हैं। इस विवेचन से स्पष्ट है कि साधु आरम्भिक औद्योगिक विरोधी एवं संकल्पी चारों प्रकार की हिंसा को सर्वथा त्यागकर अहिंसा महाव्रत का पूर्णतया पालन करते हैं।

२. सत्य महाव्रत—साधु पुरुष सत्यव्रत का पूर्णतया पालन करते हैं।

सासारिक कार्य—जिनमे व्यस्त होने से गृहस्थ प्राय किसी न किसी अश मे असत्य बोलता है या उसका व्यवहार असत्य होता है—उन समस्त सासारिक कार्य एवं तत्सम्बन्धी मोह त्याग देने से साधु पुरुष लौकिक कार्य सम्बन्धी समस्त प्रकार के असत्यो से अपनी पूर्णतया रक्षा करते हैं। गृहस्थ व्यक्ति राजा प्रजा धनी निर्धन स्वामी भृत्य विद्वान मूर्ख आदि भिन्न भिन्न स्थितिवाले मनुष्यो से भिन्न भिन्न प्रकार का व्यवहार करता है आन्तरिक माया का प्राय छिपाकर गृहस्थ किसी के प्रति अत्यन्त विनय प्रदर्शित करता है किसी के साथ रुखता का बर्ताव करता है किसी की आज्ञा नम्रतापूर्वक शिरोधार्य करके पालन करता है किसी को गर्व के साथ आज्ञा देता है। साधु उपरोक्त असद् व्यवहार से दूर रहते हैं। धनी निर्धन विद्वान मूर्ख ऊंच-नीच सदाचारी-पापी आदि भिन्न भिन्न स्थितिवाले मनुष्यो से एक सा बर्ताव करते है। न किसी की खुशामद करते हैं न किसी से दुर्व्यवहार। साधु के मन मे जैसे भाव होते हैं, उनके अनुसार उनका व्यवहार होता है वैसे ही शब्द उनके मुख से निकलते हैं। इस प्रकार साधु विचार वचन एवं व्यवहार मे सर्वथा पूर्ण सत्यता का प्रयोग करते हैं। साधु का लक्ष्य उच्च शुद्ध सच्चिदानन्द अवस्था को प्राप्त करना होता है। अत वे अपने प्रत्येक कार्य व विचारधारा मे सत्यता से काम लेते हैं। पुरानी धारणा एवं रूढियो की सत्यता की कसौटी पर परीक्षा करते हैं यदि जाचने पर वे असत्य भ्रमपूर्ण या हानिकर प्रतीत होती हैं तो उनका तत्काल त्याग देते हैं। मात्र पुरुष क्रोध के आवेश मे लोभ के वशीभूत होकर शोकग्रस्त या हास्य मे भी कभी असत्य वचन नही कहते हैं। वास्तव मे काम क्रोध, लोभ शोक हास्य आदि क्षुद्र वृत्तिया ही उनकी नष्ट हो जाती हैं। उनके वचन सर्व दूसरो के लिए हितकारी मृदु एवं सत्य होते हैं। इस प्रकार साधु पुरुष सत्य महाव्रत का पूर्णतया पालन करते हैं।

३ अचौर्य महाव्रत—साधु पुरुष किसी व्यक्ति के किसी पदार्थ को भी उसकी सम्मति के बिना कभी ग्रहण नहीं करते हैं। सयम द्वारा इन्द्रियों के नियन्त्रित काम क्रोध आदि कषाय एवं इच्छाओ के अत्यन्त क्षीण हो जाने से साधु पुरुष की आवश्यकताए बहुत ही कम हो जाती हैं। शरीर को जीवित रखने के लिए साधारण अल्पभोजन की ज्ञानवृद्धि के लिए शास्त्र

निर्जन वन, उपवन आदि स्थानों में सिंह की भांति निर्भय होकर विहार करे।

मन वचन व शरीर पर पूरा नियन्त्रण रखे न मन को इधर उधर भटकने दे न इसमें किसी प्रकार के कुत्सित विचार आने दे। विचारकर वचन बोले एवं शरीर पर भी अंकुश रखे। काम क्रोध आदि अशुभ भाव नाश—जो आत्मा के शान्ति आनन्द-स्वरूप को विकृत करनेवाले अन्तरंग परिग्रह हैं—त्याग देने पर साधु के लिए उपयुक्त है कि उनको उत्पन्न करनेवाले बाह्य बन्धनों का भी परित्याग कर दे। मोह उत्पन्न करनेवाले गृहस्थ जीवन के साथी स्त्री-पुत्र आदि प्रियजन गाय भैंस आदि पालतू पशु-पक्षी गाड़ी-मोटर आदि वाहन भोग विलास तथा वैभव की नाना प्रकार की सामग्रियां एवं साधनों को छोड़ दे। आत्मोन्नति के उपयुक्त जीवन के लिए जो वस्तुएं अत्यन्त आवश्यक हों उन्हीं तक अपनी आवश्यकताओं को परिमित कर ले। सीमित कर लेने पर ये आवश्यकताएं बहुत थोड़ी रह जाती हैं। तपस्या आदि के द्वारा कर्म-बन्धन नष्ट एवं आत्मोन्नति करने के हेतु शरीर को जीवित रखना आवश्यक है अतः उसकी मृत्यु से रक्षा करने के लिए भोजन ग्रहण करना पड़ता है। भोजन के लिए साधु भिक्षावृत्ति स्वीकार करते हैं। भिक्षा के लिए साधु दिन में एक बार बस्ती में जाते हैं। गृहस्थ श्रद्धापूर्वक सात्त्विक शुद्ध आहार भेंट कर देते हैं जिसको प्राप्त करके साधु नगर से वापस चले आते हैं।

साधु प्रायः निर्जन स्थान में रहते हैं शौच आदि से निवृत्त होने के हेतु जल रखने के लिए पात्र की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए साधु काष्ठ का बना हुआ कमण्डलु रखते हैं। स्वल्प मूल्य होने के कारण इसके चोरी जाने की भी आशंका नहीं रहती है। इस आवश्यकता को श्रद्धालु गृहस्थ बड़ी सुगमता से पूरा कर देते हैं।

ज्ञानवृद्धि के हेतु साधु को प्रायः शास्त्र की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए साधु नगरों में विद्यमान शास्त्र भण्डारों से उपयुक्त ग्रंथ स्वाध्याय के लिए ले लेते हैं अथवा उनकी इस आवश्यकता को गृहस्थ मनुष्य पूर्ण कर देते हैं। उपरोक्त वस्तुओं के अतिरिक्त साधुओं को किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, इसलिए वे अपनी

४

प्रवृत्ति-मार्ग

(विधेयात्मक पक्ष)

उपरोक्त अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एव परिग्रहत्याग पंच व्रतों के वर्णन से स्पष्ट है कि उसमें केवल यही निश्चित किया गया है कि गृहस्थ व साधु-स्थिति में मनुष्य को किस किस कर्म, वचन या भावना को त्याग देना चाहिए अर्थात उपरोक्त पंच व्रतों का विवेचन सच्चिदानन्द स्वरूप प्राप्ति के मार्ग का केवल निवृत्ति या निषेधात्मक पक्ष है। इस आदर्श मार्ग के जब तक दूसरे पक्ष प्रवृत्ति या विधेयात्मक का—अर्थात किस किस स्थिति में मनुष्य के लिए क्या-क्या करना उचित है—वर्णन नहीं किया जाता है तब तक सच्चिदानन्द-स्वरूप प्राप्ति के मार्ग का कथन अधूरा रह जाता है। मुमुक्षु जीव के लिए यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि वह किस किस स्थिति में प्रतिदिन या आवश्यकता पड़ने पर क्या-क्या कार्य करे, जिससे वह अपने उद्देश्य में सफल हो सके।

(क) गृहस्थ के षट् आवश्यक नियम—सच्चिदानन्द-स्वरूप प्राप्ति मार्ग के उपरोक्त कथन से कुछ विधेयात्मक नियम उद्धृत किये जा सकते हैं। मनुष्य की गृहस्थ एवं सन्यास अवस्था को दृष्टि में रखने से इन नियमों में भी कितना ही अन्तर पड़ जाता है इसलिए प्रथम ही गृहस्थ अवस्था के अनुकूल इन विधेयात्मक नियमों का वर्णन किया जाता है—

१ देवोपासना—जिन्होंने आत्म संयम, तपस्या, योग, ध्यान आदि के द्वारा कर्मबन्धन को नष्ट करके शुद्ध जीव मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लिया है, पूर्ण ज्ञान ज्योति के प्रज्वलित हो जाने से जिन्होंने संसार के समस्त पदार्थ एवं उनके समस्त गुण व अवस्थाओं को भली भांति जान लिया है, जो सांसारिक समस्त दुःखों से मुक्त होकर निजानन्द में—जो अनुपम अलौकिक, अक्षुण्ण एवं शाश्वत है—मग्न हो गये हैं ऐसी महान् आत्माओं

जीव मुक्त तो नहीं हुए हैं परन्तु जो उस मार्ग का कितना ही भाग तय कर चुके हैं जिनकी आत्मा कितने ही दर्जे तक शान्त निर्मल एवं स्वच्छ हो चुकी है जो अपने सदुपदेश द्वारा संसार के प्राणियों को सन्मार्ग पर लगाते हैं वे हमारे गुरु हैं। उनकी भक्ति करना भी हमारे लिए श्रेयस्कर है।

२ स्वाध्याय—आत्मोन्नति के लिए आवश्यक है कि ज्ञानवृद्धि दिन प्रतिदिन होती रहे। ज्ञानवृद्धि स्व अनुभव या पर अनुभव द्वारा प्राप्त होती है। संसार के पदार्थ एवं प्रतिदिन के व्यवहार व धारणाओं के ध्यान पूर्वक अवलोकन एवं उनपर मनन करने से स्व अनुभव प्राप्त होता है। जो ज्ञान व अनुभव पूर्व काल में महान पुरुषों ने प्राप्त किया था और जिसको मानव समाज के उपकारार्थ ग्रन्थों में अंकित कर दिया है वह ज्ञान पर अनुभव है। आत्मा को उन्नत एवं ज्ञान विकास करने के हेतु गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह प्रतिदिन आध्यात्मिक नैतिक महान पुरुषों के जीवन चरित्र-सम्बन्धी आदि विषयों पर ग्रन्थों का स्वाध्याय कुछ समय के लिए किया करे एवं अध्ययन किये हुए विषय पर विचार व मनन किया करे। यदि कोई अधिक विद्वान त्यागी पुरुष किसी ग्रन्थ को बाँचे तो उसको ध्यानपूर्वक श्रवण करे। ऐसा करने से गृहस्थी की आत्मा उन्नत होगी एवं उसके ज्ञान में वृद्धि व विचारों में उदारता आयगी।

३ ध्यान या योग—मुमुक्षु जीव के लिए उचित है कि वह चिदानन्द आत्मा को सन्मुख अपने सामने रखे। आत्मा को सामने रखने के लिए अपने शुद्ध चिदानन्द स्वरूप का ध्यान करना आवश्यक है। ध्यान करने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह प्रतिदिन कुछ समय तक प्रातः मध्याह्न या सायंकाल या दो-तीन समय एकान्त स्थान में पद्मासन आदि आसनों में से ऐसा आसन लगाये कि जिसमें स्थित होने से न तो शरीर पर आलस्य का प्रभाव पड़े और न शरीर में तनाव आदि के कारण अरुचि उत्पन्न हो। मन्द मन्द श्वास अन्दर लेता एवं बाहर निकालता हुआ अपने मन को इन्द्रियों के विषय सांसारिक चेतन व अचेतन पदार्थ एवं स्त्री पुत्र आदि प्रियजन की ओर से पूर्णतया हटाये। अपने शरीर को भी आत्मा से पृथक समझकर अपने मन व ध्यान को अपनी आत्मा में स्थिर करे। विचार करे कि वह ज्ञानमय है, अपने दिव्य ज्ञान नेत्रों से संसार के समस्त चरा

समाज के प्रति दया व प्रेम के भाव उत्पन्न होंगे एवं क्षमा नम्रता सरलता आदि उच्च वृत्तियां भी जागृत हो जायगी और उसकी आत्मा अधिक निर्मल एवं उन्नत होने लगेगी।

४ आलोचना—मुमुक्षु जीव के लिए श्रेयस्कर है कि वह प्रतिदिन ध्यान के अवसर पर या किसी अन्य समय एकान्त में बैठकर व्यतीत हुए दिन के अपने समस्त प्रशस्त व अप्रशस्त कार्यों की निष्पक्ष दृष्टि से समालोचना किया करे। दिन भर जो अनुचित कार्य उससे हुए हों जो दुष्ट या कुत्सित विचार उसके हृदय में आये हों या जो मिथ्या कठोर अहित अथवा अनुचित शब्द उसके मुख में निकले हों उनपर पश्चात्ताप करे उनके लिए अपनेको धिक्कार व भर्त्सना करे। यह संकल्प करे कि भविष्य में मैं ऐसे अनुचित काय नहीं करूंगा और न ही ऐसे दुष्ट विचारों को हृदय में स्थान दूंगा अथवा अयोग्य शब्दों का उच्चारण करूंगा। इस प्रकार निरंतर आलोचना करते रहने से, उस गृहस्थ मनुष्य का चरित्र उच्च एवं हृदय विशाल हो जायगा। पहले जिस व्यवहार में उसे कोई त्रुटि नहीं दीखती थी समालोचना द्वारा चरित्र के अधिक स्वच्छ हो जाने पर उसे उस व्यवहार में अब त्रुटियां दिखलाई देने लगेंगी। उनको दूर करने के लिए वह अधिकाधिक प्रयत्न करेगा जिसका परिणाम यह होगा कि उसका चरित्र अधिक स्वच्छ व उज्ज्वल एवं उसका हृदय अधिक उदार व विशाल हो जायगा। उसके उच्च चरित्र की छाप उसके प्रत्येक व्यवहार एवं कार्य पर पड़ने लगेगी। उसका व्यवहार अधिक सरल शुद्ध एवं निष्कपट हो जायगा।

५ संयम व तप—कल्याणपथ अनुगामी के लिए आवश्यक है कि वह ऐसे उपाय करे जिसके करने से अपने हृदय में जल-तरंग की भांति उठने वाली इच्छा व वासना पर नियंत्रण प्राप्त हो जाय और उसका मन इन्द्रियों के विषयों में लिप्त न हो। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए यह उचित होगा कि वह इन्द्रिय विषय के क्षेत्र को सीमित करे। काम वासना रोकने के लिए अपनी विवाहिता स्त्री के साथ विषय-सेवन के भी नियम बना ले। जिह्वा इन्द्रिय को वश में रखने के लिए भोजन को नियमित कर ले जैसे रात्रि भोजन का सप्ताह में एक या दो दिन उपवास नीरस भोजन ग्रहण

आदि। इस प्रकार कामवासना व स्वादु रस की लोलुपता को सयमित करने से वह अपनी स्पर्श एव जिह्वा इन्द्रिय पर नियन्त्रण प्राप्त कर सकेगा। इसी भाँति अन्य इन्द्रियों की विषय-वासना में वृद्धि करनेवाले नाच घर थियेटर क्लब, सिनेमा आदि में सम्मिलित होने देखने गाना सुनने सुन्दर चटकीले भड़कीले वस्त्र पहिनने सौन्दर्य वर्धक पदार्थों के सग्रहीत करने आदि के नियमित करने से वह मुमुक्षु जीव अपने नेत्र व कर्ण इन्द्रिय के विषयों पर पर्याप्त नियन्त्रण प्राप्त कर सकेगा। इत्र फुलेल, क्रीम आदि सुगन्धित पदार्थों के प्रयोग को सीमित करने से नासिका इन्द्रिय के विषय पर सयम प्राप्त कर लेगा। सासारिक वस्तुओं में मोह व ममता होने के कारण मन इधर उधर भटकता है अनेक प्रकार के सकल्प विकल्प मन में उठा करते हैं। अत सासारिक वस्तुओं में मोह कम एव नियमित कर देने से मन की चचलता कम हो जाती है और उसको अपने मन पर नियन्त्रण कितने ही अशो में प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार पच इन्द्रिय एव छठ मन के विषयों को सीमित कर देने से इन्द्रियों पर सयम प्राप्त हो जाता है और विषय वासना कम एव नष्ट हो जाती है। इन्द्रियों को वश में कर लेना ही सयम है और यह सयम तप का मुख्य अग है।

६ परोपकार सेवाधर्म या दान—देवोपासना आदि उपरोक्त पाच नियम जो दैनिक व्यवहार के लिए बतलाये गये हैं उनमें केवल एक या दो घटे प्रतिदिन व्यतीत होते हैं। मनुष्य मन वचन अथवा शरीर द्वारा कुछ न कुछ कार्य प्रति-क्षण करता रहता है। प्रति क्षण मनोभावना के अनुसार उसके नवीन कर्मों का बधन होता रहता है। इसलिए गृहस्थ मनुष्य के लिए उचित है कि वह देवोपासना आदि उपरोक्त पच आवश्यक कार्यों में एक या दो घटे तक लगे रहने से ही सतुष्ट न हो जाय। उसको अपने शेष घटों के कार्य पर भी ध्यान रखना होगा कि कहीं प्रमाद के कारण इस शेष समय में अशुभ कर्मों का बन्धन न हो जाय। इस आवश्यकता के अतिरिक्त गृहस्थ मनुष्य को एक और भी आवश्यकता है।

प्रत्येक मनुष्य सासारिक वस्तुओं में ऐसा लिप्त है स्त्री पुत्र आदि कुटुम्बी जनों की एव अपने शरीर की मोह ममता में ऐसा फसा है कि यह जानता हुआ भी कि उसकी आत्मा इन सबसे पृथक एव भिन्न है फिर भी

उसका ममत्व उनसे नहीं छटता है। इस ममता के भाव को कम करने एव छुड़ाने की अत्यन्त आवश्यकता है। उपरोक्त दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति की केवल एक ही औषधि है कि वह समस्त प्राणि-समाज के प्रति प्रेम व सहानुभूति दुखित जीवों पर दया मानव-समाज पर उपकार एव उसकी सेवा की भावनाए अपने हृदय म धारण तथा वृद्धि करे और इन भावनाओं को हृदय के भीतर सुषुप्त-दशा म ही न पड़ा रहने दे वरन् इन भावनाओं को कार्य रूप म परिणत करने का भरसक प्रयत्न करे। सेवा के भाव हृदय म रखने, नि स्वार्थ भाव से मानव एव प्राणि समाज की सेवा म लगन तथा उनका दुख दूर करने के लिए गाढ़ परिश्रम से प्राप्त किया हुआ द्रव्य व्यय करने एव शारीरिक कष्ट उठाने म उपरोक्त दोनो आवश्यकताए पूर्ण हो जाती हैं। परोपकार की भावना हृदय में रहने से अशुभ कर्मों का बन्धन नहीं होता है केवल शुभ कर्म ही बधते हैं। अन्य प्राणियों की प्रेमपूर्वक सेवा करने म जो शारीरिक कष्ट या वेदना उसको उठानी पड़ती है, अथवा अन्य मनुष्य या समाज के हितार्थ जो धन व्यय करता या दान देता है उससे उसकी ममत्व भावना कम एव नष्ट होती है। इस प्रकार परोपकार सेवाधर्म या दान गृहस्थ के लिए सबसे अधिक उपयोगी एव आवश्यक है।

गृहस्थ मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने कुटम्बी सम्बन्धी व निकट स्थो के कल्याण व लाभार्थ कार्य करे तथा समाज व देश के उद्धार एव समृद्धि के कार्यों में प्रयत्नशील रहे। निकटवर्ती पशु-पक्षी आदि जीवों को भी सुख पहुचावे भूलकर भी कष्ट न दे। गृहस्थी के लिए उचित है कि धीरे धीरे, परन्तु दृढ़तापूर्वक अपने सेवाधर्म को अपने समाज एव देश तक ही सीमित न रखे अपितु उसकी सीमा को बढ़ाकर ससार के समस्त मानव तथा पशु समाज तक कर दे, ससार के समस्त प्राणियो के कल्याण की बातें सोचे एव विचारों को कार्यान्वित करे। परोपकार के समस्त कार्य चार भागो मे विभक्त किये जा सकते हैं—

(क) आहार दान—साधु त्यागी एव सत्पुरुषो को शुद्ध सात्त्विक आहार देना बुभुक्षित पीड़ित पशु आदि अशक्त व्यक्तियो को भोजन देना अनाथ बालकों का पालन पोषण अनाथालय आदि की स्थापना निर्धन एव ... मनुष्यों आदि को व्यापार आदि कार्यों में

कर उनकी आजीविका का प्रबन्ध कर देना आदि कार्य आजीविका-सम्बन्धी सेवाधर्म में सम्मिलित हैं।

(ख) विद्यादान—बाल-बालिकाओं को ऐसी शिक्षा देना दिलाना या धन आदि द्वारा सहायता देना जिससे उनके ज्ञान का विकास हो एवं आध्यात्मिक नैतिक व्यापारिक सामाजिक राष्ट्रीय ज्ञान की वृद्धि हो ताकि वे योग्य नागरिक बनकर सुगमता से जीवन निर्वाह कर सकें, अपने कर्तव्यों का पालन उचित प्रकार से करते हुए न्यायोचित विधि से धनोपार्जन एवं अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर सकें और अपने अन्तिम लक्ष्य व आदर्श को आंखों से ओझल होने न दें। शिल्प-वाणिज्य आदि आजीविका सम्बन्धी शिक्षा समाज उपयोगी विज्ञान आदि समस्त प्रकार की शिक्षाएं इसी विद्यादान या शिक्षा सम्बन्धी सेवाधर्म में गर्भित हैं।

(ग) औषधिदान—रोगग्रस्त व्याधियुक्त मनुष्यों की सेवा-सुश्रूषा एवं चिकित्सा का उचित प्रबन्ध करना निःशुल्क चिकित्सालय खोलना रोगी पशुओं के लिए अस्पताल जारी करना ऐसे कार्य करना, जिससे जनता का स्वास्थ्य ठीक रहे रोग न फैलें वायु स्वच्छ रहे उपरोक्त कार्यों में सहायता देना अन्य मनुष्यों को ऐसे कार्य करने के लिए प्रेरणा या उत्साहित करना आदि समस्त कार्य इस चिकित्सा सम्बन्धी सेवाधर्म या औषधि दान में गर्भित हैं।

(घ) विपत्ति निवारण या अभयदान—यदि कोई मनुष्य किसी कष्ट से पीड़ित हो विपत्ति में ग्रसित हो या किसी भय से कम्पित हो तो उस कष्ट विपत्ति एवं भय का निवारण करे। समाज व देश पर आये हुए अग्नि एवं जल प्रकोप प्लेग हैजा इन्फ्लुएंजा आदि महामारी तथा अन्य प्रकार की आकस्मिक आपत्तियों को दूर करे। शत्रु डाकू आदि मनुष्यों के आक्रमण या उनके द्वारा सताये व पीड़ित हुए देशवासियों की रक्षा करे। देश, समाज परिवार आदि का उपरोक्त प्रकार की आकस्मिक विपत्ति एवं भय से रक्षा करना इस विपत्ति निवारण सम्बन्धी सेवाधर्म या अभय-दान में सम्मिलित है।

(ख) संन्यासी के षट् आवश्यक नियम—साधु-जीवन की परिस्थिति ध्यान में रखने से, उपरोक्त देवोपासना आदि षट् विधयात्मक नियमों के

स्वरूप म कितना ही अन्तर पड जाता है। इसलिए सन्यास अवस्था की दशा में इन नियमों के स्वरूप का कुछ वणन करना अनुचित न होगा।

१ देवोपासना—काम क्रोध आदि छः वृत्तियाँ जिनकी नष्ट हो गई है और जो निरन्तर अभ्यास द्वारा अपनी आत्मा के उन्नत करने म उद्यमशील हैं उन साधु-मुनियो के लिए उचित ही है कि वे अपने आत्म—शुद्ध चिदानन्द परमात्म अवस्था—को अपने ज्ञान-नेत्रों के सम्मुख रखें एव चिदानन्द शान्त, सौम्य मुद्रा का चित्र अपने हृदय मन्दिर म विराजमान करें। व सुधारूप, वीतराग शान्त मुद्रा अलौकिक दिव्य ज्ञान-ज्योति अनुपम दिव्य आनन्द अनन्त सामर्थ्य आदि गुणों का स्तवन कर, उनपर विचारें एव मनन करें। ऐसा करने से आत्म का प्रज्वलित प्रदीप सन्तत प्रदीप्त रहेगा, उनके माग को प्रकाशित रखेगा एव ध्येय की ओर अग्रसर होने के लिए उत्साहित करेगा। साधु-जीवन की उच्च मानसिक स्थिति को दृष्टि म रखते हुए यह आवश्यक प्रतीत नहीं होता कि ध्यान आदि काय के लिए चिदानन्द शान्त परमात्म अवस्था का धातु पाषाण आदि का बना हुआ कोई चित्र या मूर्ति उनके नेत्रों के सम्मुख रहे या इस काय के लिए व किसी देवालय आदि स्थान म जाय। उनम इतनी सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है कि वे उन महान् आत्माओं के गुण तपस्या शान्त मुद्रा आदि के सुन्दर चित्र अपने हृदय म भली भाँति खींच सकते हैं। तथापि देवालय म जाकर शान्त अर्हत अवस्था की मूर्ति के दशन करना उनकी आत्मोन्नति म बाधक नहीं है उस शान्त सौम्य मुद्रायुक्त मूर्ति के सम्मुख परमात्म अवस्था के गुणों का स्तवन कर सकते हैं अपने परम आराध्य देव शुद्ध चिदानन्द परमात्मा का गुणानुवाद ही देवोपासना है।

२ स्वाध्याय—आत्मिक उन्नति के हेतु गृहस्थ के समान साधु के लिए भी उपयुक्त ग्रंथों का अध्ययन श्रवण एव मनन करना उचित है। स्वाध्याय से ज्ञान-वृद्धि एव मानसिक शक्तियों का विकास होता है। ज्ञान वृद्धि से प्रत्येक वस्तु के यथार्थ समझने म सहायता मिलती है एव आत्म के वास्तविक स्वरूप का अनुभव विशद रूप से होता है।

३ ध्यान या योग—साधु के लिए उचित है कि वे पद्मासन आदि उपयुक्त ... आत्मस्वरूप का ध्यान गृहस्थ से कहीं अधिक

करें अपने शुद्ध ज्ञानानन्द-स्वभाव का अनुभव कर आत्मस्थित आनन्द स्वरूप मे मग्न होकर अमृतमय सुख का आस्वादन करें। सतत अभ्यास द्वारा ध्यान योग व समाधि में उन्नतशील रहें, धीरे धीरे समय में वृद्धि करें दिन मे एक बार ध्यान लगा लेने पर ही सन्तुष्ट न रहें प्रात मध्याह्न एव सायकाल तीन बार ध्यान लगावे तथा प्रति समय आत्मध्यान मे लीन रहने का प्रयत्न करते रहें। ध्यान के आसन आदि के सम्बन्ध में भी अमितगति आचार्य ने कहा है —

न संस्तरोऽश्मा न तृण न मेदिनी
विधानतो नो फलको विनिर्मित ।
यतो निरस्ताक्षकषायविद्विष
सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मत ॥
न संस्तरो भद्र समाधिसाधन,
न लोकपूजा न च सघमेलनम् ।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिश
विमुच्य सर्वामपि बाह्यवासनाम् ॥

अर्थात्—ध्यान करने के लिए पाषाण की शिला, तृण या पृथ्वी के आसन की आवश्यकता नही है। विद्वानो के लिए वह आत्मा ही स्वय पवित्र आसन है जिसने क्रोध आदि कषाय (कुवृत्ति) व इन्द्रिय विषय वासना रूपी शत्रु का सहार कर दिया है। हे मित्र! आत्मध्यान के लिए न किसी आसन का न लोकपूजा की और न सभा सोसायटी की आवश्यकता है। जिस किसी प्रकार अपने हृदय से बाह्य वस्तुओ की वासना को निकाल कर अपने ही स्वरूप मे प्रति क्षण लवलीन रहे यही ध्यान एव समाधि है।

योग के सम्बन्ध मे श्रीमद्भगवद्गीता मे कहा है—

यदा विनियत चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निस्पृह सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥६।१८॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्ध योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मान पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥६।२०॥

अर्थात्—जिस समय समस्त वासनाओ की इच्छा से मुक्त होकर साधक

का निश्चल चित्त आत्मा में ही स्थिर होता है उस समय उसका योग युक्त कहा है। योगाभ्यास से निरुद्ध हुआ चित्त जिस समय स्थिर होता है उस समय वह आत्मा अपनी आत्मा को आत्मा के द्वारा साक्षात् देखता हुआ आत्मा में ही सन्तुष्ट होता है। योग के सम्बन्ध में योग दर्शन में कहा है —

योगश्चित्तवृत्तिनिरोध । तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम् ॥१।१ २।

अर्थात्—जिस समय चित्त की वृत्तियों का निरोध किया जाता है उस समय आत्मा (द्रष्टा) अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है। यही—चित्त वृत्तिनिरोध—योग है। योगदर्शन के विभूतिपाद में कहा है—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव[1] समाधि ॥३॥

अर्थात्—जब ध्याता का ध्यान ही ध्येय के आकार रूप हो जाता है, कोई भेद ध्याता ध्यान व ध्येय में नहीं रहता है उस समय समाधि होती है। ध्यान के सम्बन्ध में श्री ज्ञानार्णव के पंचम सर्ग में कहा है—

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम।
यस्य चित्त स्थिरीभूत स हि ध्याता प्रशस्यते ॥३॥

अर्थात्—जिस साधु का चित्त काम भोगों से विरक्त होकर तथा और शरीर के मोह से मुक्त होकर स्थिर हो गया है वही ध्याता प्रशंसा के योग्य है।

उपरोक्त ग्रंथ के त्रयोविंश प्रकरण में कहा है—

क्षीणरागं च्युतद्वेषं ध्वस्तमोहं सुसंवृतम।
यदि धत्ते समापन्नं तदा सिद्ध समीहितम ॥१०॥
मोह पङ्के परिक्षीणे प्रशान्ते रागविभ्रमे।
पश्यन्ति यमिन स्वस्मिन्स्वरूप परमात्मन ॥११॥

अर्थात्—राग के क्षीण द्वेष के च्युत और मोह के नष्ट हो जाने पर यदि चित्त अपने स्वरूप साधन में लगता है तो वही सिद्धि है ॥१०॥

मोह रूपी कर्दम के क्षीण होने पर एवं रागादि परिणामों के शान्त होने पर योगीगण अपने ही परमात्म स्वरूप को अनुभव करते व ध्याते हैं ॥११॥

[1] ध्यान का स्वरूप शून्य के समान विदित होता है अर्थात् ध्येय के ध्यान में मग्न होने से ध्याता को अपनी विभिन्नता का ज्ञान नहीं रहता है।

उपरान्त ग्रथ के १८४ श्लोक म वीतराग ध्यान से उत्पन्न आनन्द की महिमा का वणन करते हैं—

> स कोऽपि परमानन्दो वीतरागस्य जायते ।
> यन लोकत्रयश्वयमप्यचिन्त्य तृणायते ॥

अर्थात—यदि कोई वीतरागी वे ध्याता परमानन्द-स्वरूप आद को प्राप्त कर लता है तो उसको तीन लोक का अचिन्त्य ऐश्वय भी तण के समान भासता है।

श्री योगसार म प्राकृत भाषा मे कहा है—

> ज परभाव चएवि मुणि अप्पा अप्प मुणति ।
> केवल णाण सरुव लइ ते ससार मुचति ॥६३॥
> एक्कुलउ जइ जाइसिहि तो परभाव चएहि ।
> अप्पा भायहि णाणमउ लहु सिव सुक्ख लहहि ॥७०॥

अथात—जो साधु परभावो को त्याग कर अपनी आत्मा को अपनी ही आत्मा के द्वारा ध्याता है वह केवलज्ञान को प्राप्त करके ससार भ्रमण से मुक्त हो जाता है ॥६३॥

आचाय कहते है कि हे शिष्य यदि तुझे यह निश्चय हो गया है कि तुझे अकेले ही इस ससार से जाना होगा तो तू परभावो का त्याग कर अपना ज्ञानमय आत्मा का ध्यान कर ता शीघ्र ही मोक्ष सुख को प्राप्त करेगा।

समाधि अवस्था म ध्याता ध्यय और ध्यान तीनो मिल जाते हैं। आत्मा अपना ही ध्यान अपने ही द्वारा करता है इनम कोई भेद नहीं रहता है। इसको बड ही सुन्दर छदो म कविवर दौलतरामजी ने छहढाले म कहा है—

> निज माहि निज के हत निज करि, आपको आप गह्यो ।
> गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञय मभार कछु भेद न रह्यो ॥
> जहा ध्यान ध्याता ध्येय को न विकल्प वच भेद न जहां ।
> चिदभाव कम चिदेश कर्ता चेतना किरिया तहां ॥

तीनों अभिन्न अखिन्न शुध उपयोग की निश्चल दसा।
प्रगटी जहाँ दृग् ज्ञान व्रत ये, तीनधा एकलसा ॥'

ध्यान में मग्न होने से जिस आनन्द का आस्वादन होता है जिससे हृदय प्रफुल्लित एवं शरीर पुलकित हो जाता है उससे साधु के मन में इतनी दृढ़ता साहस, धीरता एवं सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है कि साधु भूख-प्यास उष्णता शीत आदि के कष्ट मनुष्य पशु मच्छर आदि जन्तु द्वारा होने वाली पीड़ा को शान्ति के साथ हर्षपूर्वक सहन करता है। ये शारीरिक कष्ट व पीड़ाएं तपस्यायुक्त सन्यासी जीवन में प्रायः आती ही रहती हैं। शरीर से मोह-ममता हटाने व आत्म-शक्ति को प्रबल करने के हेतु साधु के लिए आवश्यक है कि वह कभी कभी शरीर की अस्थिर क्षणभंगुर अवस्था एवं संसार की परिवर्तनशील दशा पर भी चिन्तन किया करे।

वह विचार करे कि संसार में स्त्री पुत्र पशु गृह धन-सम्पत्ति आदि समस्त चेतन व अचेतन पदार्थ क्षणभंगुर एवं नाशवान हैं। स्वयं उसका शरीर नष्ट होनेवाला है। जब रोग व्याधि आपत्ति या मृत्यु आती है तो इस शरीर की कोई रक्षा नहीं कर सकता। यह जीव अपने कर्मों के कारण भिन्न भिन्न योनि में जन्मता एवं नाना प्रकार के दुःख व आपत्तियां को भरता हुआ भ्रमण करता है। मनुष्य जो कुछ कार्य करता है उसका फल स्वयं भोगता है उसका कोई साभीदार नहीं होता। स्त्री पुत्र मित्र सेवक आदि कोई भी मनुष्य उसके साथ नहीं जाता है। यह शरीर साथ

'जब आत्मा अपने लिए अपने द्वारा अपने स्वरूप में अपनेको ही ग्रहण करता है जब गुणी व गुण में ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेय (जिसको जाना जाता है) में कुछ भेद नहीं रहता है जब ध्याता, ध्यान व ध्येय (जिसका ध्यान किया जाय) में किसी प्रकार का भेद विचार या शब्द द्वारा नहीं किया जा सकता जहां चतन कर्ता चेतय कर्म व चेतन क्रिया तीनों मिल कर एक हो गये हैं उनमें कोई भेद नहीं रहा है जहां आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में स्थिर हो गया और जब आत्मा को अपने वास्तविक स्वरूप का दर्शन, अनुभव एवं तल्लीनता होकर एकपन का अनुभव होता है वही अवस्था समाधि अवस्था है।

रुधिर मल मूत्रादि दुर्गन्धित एवं मलिन वस्तुओं का बना है इसकी नासिका, गला आदि नव द्वारों से सदा अत्यन्त घिनावना मल बहता है। यह शरीर भौतिक पदार्थों से उत्पन्न हुआ है मृत्यु होने पर छिन्न भिन्न हो जाता है, ऐसे घिनावने मल मूत्रादि दुर्गन्धित पदार्थों से भरे हुए नष्ट होनेवाले शरीर से मोह ममता करना मूर्खता है। स्त्री-पुत्र आदि कुटम्बी जन, मित्र, सेवक आदि अन्य मनुष्यों का सम्बन्ध तो शरीर ही से है, इसलिए उनसे ममता करना और भी मूर्खता है। इस प्रकार की बार-बार भावना एवं विचारने से अपने शरीर एवं संसार के अन्य चेतन व अचेतन पदार्थों से मोह व ममता नष्ट हो जाती है। साधु का चित्त कभी-कभी वाह्य कष्टों से खेदखिन्न हो जाता है ऐसी दशा में उपरोक्त भावना एवं विचार से फिर दृढ़ता आ जाती है, चित्त स्थिर हो जाता है और साधु फिर ध्यानारूढ़ हो जाता है।

४ आलोचना—अपने पूर्व-कृत कार्यों का पर्यवलोकन मुनि के लिए गृहस्थ से भी अधिक आवश्यक है। अपने आदर्श की प्राप्ति एवं नवीन कर्म बन्धन निरोध के हेतु साधु को आवश्यक है कि उसको अपने मन, वचन एवं शरीर पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त हो। ऐसा देखा जाता है कि वे व्यक्ति जो एकान्त में रहने विचारने एवं मनन करने का कार्य अधिक करते हैं उनमें एक प्रकार की सनक सी उत्पन्न हो जाती है उनके हृदय में अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प उठा करते हैं, उनका मन स्वेच्छाचारी होकर संकल्प-सागर में गोते लगाया करता है जिसके कारण उन्हें अपने शरीर की भी सुध नहीं रहती है। साधु के लिए नितान्त आवश्यक है कि वे अपने मन रूपी तुरंग को बिना लगाम के न विचरने दें अनुचित विचारों को हृदय में न आने दें न काम क्रोध आदि अप्रशस्त भावना को अपने अन्तःस्थल में स्थान दें न शरीर-सम्बन्धी किसी कार्य में प्रमाद को पास फटकने दें। मन, वचन व शरीर को संयमित रखने के हेतु साधु के लिए आवश्यक है कि वह प्रतिदिन अपने विचार मानसिक चेष्टा वचन एवं शरीर सम्बन्धी कार्यों की सूक्ष्म दृष्टि से कठोरता के साथ आलोचना किया करें प्रत्येक त्रुटि पर पश्चात्ताप करें एवं भविष्य में उन त्रुटियों को न करने का संकल्प करें। ऐसा करने से उनका मन स्वच्छ एवं चरित्र निर्मल हो जायगा तथा उनको

अपने मन, वचन तथा शरीर पर पूरा नियन्त्रण प्राप्त हो सकेगा।

५ तप—मनोभावना को शुद्ध एव चरित्र को निमल स्वच्छ रखने से मनुष्य के नवीन कमबन्धन का निरोध हो जाता है। यदि शुभ नवीन कम का बन्धन होता है तो वह क्षण-स्थायी रहता है। उसके अभी तक पूव-सचित कर्मों के समूह का बन्धन विद्यमान है जब तक वह पूव सचित समस्त कमबन्धन समूल नष्ट नही होता तबतक परमात्म अवस्था प्राप्त नही हो सकती। पूव सचित कम शक्ति युक्त परमाणुओं में से केवल वे कम-परमाणु—जिनके उदय (काय म परिणत होने) का अवसर आ जाता है—कार्यान्वित होकर अपना फल व प्रभाव दिखाकर प्रति क्षण आत्मा के सम्बन्ध से पृथक होते रहते हैं। शेष कम परमाणुओं का समूह सूक्ष्म कार्माण शरीर के रूप म पूववत सचित रहता है। यदि वे कम परमाणु अपनी निश्चित अवधि के अनुसार फल देकर आत्मा के सम्बन्ध से धीरे धीरे पृथक व क्षीण होते रहे तो इन समस्त पूव सचित कर्मों के क्षय अर्थात कमबन्धन से सवथा मुक्त होने के लिए युग चाहिए। इसके लिए मुमुक्षु जीव को अनेक योनिया धारण तथा अक्षुण्ण अथक प्रयत्न करते रहना होगा। यदि इन आगामी योनियों म वह अपनी मनोभावना शुद्ध एव चरित्र निमल न रख सका तो फिर नवीन कमबन्धन प्रारम्भ हो जायगा। नवीन कमबन्धन के प्रारम्भ हो जाने स भविष्य म कमबन्धन से मुक्त हो जाना अत्यन्त दुष्कर हो जायगा। इसलिए ऐसा उपाय सोचना होगा कि जिसको प्रयोग में लाने से पूवसचित कम शक्ति अपनी निश्चित अवधि से पूव ही काय में परिणत होकर तथा अपना प्रभाव (फल) दिखाकर या बिना दिखाये ही नष्ट हो सके। ऐसा करने पर पूवसचित कम अपनी अवधि से पहले ही, आत्मा के सम्बन्ध स पृथक हो जायगे एव मुमुक्षु जीव सम्पूण कमबन्धन को अल्प काल मे ही काटकर शुद्ध परमात्म अवस्था प्राप्त कर सकेगा।

उपरोक्त काय सिद्धि का उपाय केवल एक है वह है तपस्या। तपस्या के द्वारा साधु क्षुधा तथा शीत उष्णता कठोर भूमि पर शय्या आदि के कष्ट व आपत्तियों को स्वेच्छापूवक आह्वानन करता है उन्हें हषपूवक शान्ति के साथ बिना मन को विचलित व मलिन किये सहन करता है इन आमन्त्रित व [illegible] किये हुए कष्टों का सहन करना उन कर्मों

साधु विह्वल एव दु खित नहीं होते न चित्त को विचलित होने देते हैं। वे अहिंसा आदि पच महाव्रत एव देवोपासना आदि पर आवश्यक नियमों का पालन भली भाति करते रहते हैं।

२ अवमोदर्य—प्राय देखा जाता है कि मनुष्य के लिए किसी भोज्य पदार्थ का सेवन न करना सुगम होता है परन्तु भोज्य पदार्थ का खाना प्रारम्भ करके बिना उदर भरे एव इच्छा-पूर्ति किये मध्य ही में छोड़ देना कठिन होता है। साधु इस इच्छा पर नियत्रण कर लेते हैं। जब वे भोजन करते हैं तो उदर पूर्ति की एव इच्छा की पूरी तृप्ति कदापि नहीं करते हैं सदा उदर-पूर्ति से कम भोजन करते हैं।

३ रसपरित्याग—रसनेन्द्रिय पर सयम रखने के लिए प्राय दूध दही घृत, मिष्ट लवण एव तेल आदि रसो म से कुछ रसों का त्याग करते रहते हैं। किसी दिन बिना नमक के भोजन करते हैं कभी मीठे रस को त्याग देते हैं। नीरस भोजन ग्रहण से स्वादु रस म प्रीति नही रहती है। इस प्रकार रसना इन्द्रिय पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त कर लेते हैं।

४ व्रत-परिसख्यान—साधु भोजन के सम्बन्ध म कभी-कभी ऐसे नियम बना लेते हैं कि यदि अमुक प्रकार का भोजन आज मिलेगा तो करेंगे अन्यथा नहीं। नगर व ग्राम म भोजन के लिए जाते हैं परन्तु अपने मनोगत नियम की सूचना किसी व्यक्ति को नही देते। यदि उनके नियम अनुसार भोजन मिल गया तो ग्रहण कर लेते हैं अन्यथा बिना भोजन किये ही वापस लौट आते हैं।

५ विविक्त शय्यासन—साधु किसी प्रकार की सेज बिछौना कम्बल चटाई आदि वस्तु का प्रयोग नहीं करते हैं। एकान्त स्थान म भूमि पर बिना किसी वस्त्र चटाई या कुशा के बिछाये ही शयन करते हैं। कठोर ककरीली भूमि के चुभने आदि के कष्टों को शान्तिपूर्वक सहन करते हैं।

६ कायक्लेश—उपरोक्त पच विध तप के अतिरिक्त साधुजन अन्य कष्टों को भी स्वेच्छा से आमन्त्रित एव हर्षपूर्वक सहन करते हैं।

(ख) अतरग तप—इसके द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वरूप चारित्र म उन्नति एव ज्ञान मे वृद्धि की जाती है। काम क्रोध आदि प्रवृत्ति या प्रमादवश जो ... हुई हो उसे गुरु के समक्ष रखे। गुरु जो प्राय

कार्य में लगने, मांस भक्षण करने, शिकार खेलने, मदिरा पीने, चोरी आदि व्यसन को त्याग करने के लिए उत्साहित करें तथा समाज में जो रीति रिवाज दुश्चरित्रता या स्वास्थ्य विरुद्ध अथवा अनुपयोगी हों उनके छोड़ने के लिए प्रेरणा करें। उनको पूर्णतया या कुछ अंशों में, पंच व्रत-पालने और नियमों के धारण करने, समाज व राष्ट्र के हितवर्धक कार्य करने के लिए अग्रसर करें। यदि बहुत से साधु एक साथ संघ के रूप में रहते हों तो विद्वान् मुनि का कर्तव्य है कि अन्य अल्पज्ञानी साधुओं को ज्ञान की शिक्षा दे उनकी आध्यात्मिक ज्ञान शक्ति के विकसित एवं चारित्र के उन्नत होने में सहायता करे। यदि संघ में कोई साधु अस्वस्थ हो जावे तो अन्य साधुओं के लिए उचित है कि वे उसकी सेवा करें।

इस प्रकार पंच महाव्रत व पूर्व आवश्यक नियमों का निरन्तर यत्न पूर्वक पालन करता हुआ साधु अपने आदर्श की ओर अग्रसर होता है। पूर्वसंचित कर्मबन्धन को धीरे धीरे परन्तु दृढ़ता व आत्मपूर्वक काटता एवं नवीन कर्मबन्धन से अपनी रक्षा करता हुआ साधु अपनी आत्मा को दिन प्रति दिन अधिकाधिक निर्मल एवं शुद्ध करता जाता है। अन्त में एक ऐसा समय आता है जब समस्त ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय एवं अन्तराय घातिकर्मों को नष्ट करके वह अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। उस जीवन्मुक्त (अर्हत्) परमात्मा का ज्ञानसूर्य—जो अब तक कर्म रूपी मेघों से आच्छादित व छिपा हो रहा था—पूर्ण ज्ञान प्रकाश से प्रज्वलित हो उठता है। उनके ज्ञान प्रकाश में संसार के समस्त पदार्थ एवं उनके समस्त गुण व अवस्थाएं झलकने लगती हैं। ज्ञान प्रकाश के साथ-साथ वह जीवन्मुक्त आत्मा दिव्य अलौकिक, अनुपम आनन्द में मग्न हो जाता है। इस अनुपम आनन्दामृतरस का अतिशय पान करता हुआ, उसमें लीन रहता है। संसार के स्वभाव उस जीवन्मुक्त से परमात्मा की दिव्यवाणी का संचार होता है जिसके श्रवण से अनेक प्राणियों को ज्ञान प्राप्त होता है एवं वे आत्मोन्नति की ओर अग्रसर होते हैं।

उपरोक्त जीवन्मुक्त अवस्था में रहने एवं संसार का कल्याण करने के कुछ समय पश्चात् उसके शरीर सम्बन्धी नाम, आयु, गोत्र व वेदनीय अघाति कर्मों का भी नाश हो जाता है। आयु कर्म क्षीण हो जाने पर उसकी

खण्ड ३

समन्वय या एकीकरण

१

साधारण विवेचन

आत्मस्वरूप का निर्णय कर लेने एव उसकी प्राप्ति के उपाय जान लेने पर यह प्रश्न स्वभावत हो मन म उठता है कि इस पृथ्वी पर अनेक महात्मा व विद्वान हो गए हैं जिनके हृदय म जीव के वास्तविक स्वरूप, सुख दु ख, ससार भ्रमण जन्म मरण एव जगत म होनेवाली अनेक घटनाओं का रहस्य जानने की उत्कठा उत्पन्न हुई है। इन प्रश्नों का समाधान एव निर्णय करने म उन्होंने अपना जीवन व्यतीत किये हैं। अपने अनुभव अन्वेषण एव अनुसधान स जो सिद्धान्त स्थिर किये हैं उनकी नींव पर अनेक मत व सम्प्रदाय मानव-समाज म प्रचलित हो गए हैं। इन सिद्धान्तो के अध्ययन से ज्ञात होता है कि बहुत सी बातें इन धर्मों मे एक सी हैं परन्तु कुछ प्रश्नों के सम्बन्ध म इनका मत भिन्न भिन्न है और कहीं कहीं परस्पर विरोध भी है। इन सिद्धान्तो के पढने स साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या विद्वान भी उलझन म पड जाते हैं और किसी एक निर्णय पर पहुच नहीं पाते हैं। यह जानना आवश्यक प्रतीत होता है कि एक ही विषय के निश्चय करने म इतनी विभिन्नता एव विरोध का कारण क्या है? यदि इस विभिन्नता एव विरोध का कारण ज्ञात हो जाय तो भिन्न भिन्न दर्शनो एव शास्त्रों के यथार्थ समझने की कुजी हाथ लग जायगी।

इस विभिन्नता एव विरोध के निम्नलिखित दो ही कारण हो सकते हैं—

१ इन विद्वानो ने किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि के अर्थ सोच-समझ कर विरोधी सिद्धान्त स्थिर किये हैं। अथवा

२ इन महापुरुषो को देश, समाज या समय की परिस्थिति, अपनी मनोवृत्ति या अन्य किसी कारण स इन सिद्धान्तों के स्थिर करने म भ्रम हुआ है, जिसके कारण इनमे इतनी विभिन्नता एव विरोध दृष्टिगोचर होता है।

यह बात तो समझ में नहीं आ सकती कि इन महापुरुषों ने किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि के अर्थ असत्य सिद्धान्तों की रचना एवं उनका प्रचार किया है। क्योंकि इन महात्माओं का—जिन्होंने संसार से विरक्त होकर गृहस्थी त्यागकर अनेक कष्टों को सहन कर मन वचन एवं शरीर को नियंत्रण में रखकर आत्म-स्वरूप आदि अनेक समस्याओं का समाधान किया है—मिथ्या सिद्धान्तों के स्थिर व प्रचार करने में कोई उद्देश्य प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त प्रायः प्रत्येक मत व सम्प्रदाय में योग्य विद्वान पाये जाते हैं। यदि उन मतों के सिद्धान्त बुद्धि विरुद्ध एवं प्रकट रूप से मिथ्या होते तो उन मतों के अनुयायी विद्वान—जिनका कोई विशेष उद्देश्य उन सिद्धान्तों में विश्वास करने का नहीं है—क्या उनको सत्य मानकर उनपर श्रद्धा करते एवं उनके अनुसार आचरण करते? जब कभी भिन्न भिन्न दर्शन या भिन्न भिन्न धर्मों के ग्रन्थों का अध्ययन एवं उनकी युक्तियों पर विचार किया जाता है तो वे युक्तियाँ बहुत-कुछ सत्य प्रतीत होती हैं। परन्तु जब इनके आधार पर भिन्न भिन्न सिद्धान्त स्थापित किये जाते हैं तो इनमें बड़ी विभिन्नता एवं विरोध दृष्टिगोचर होता है जिसको देखकर बुद्धि चक्कर में पड़ जाती है। कोई सिद्धान्त—जो सत्य की कसौटी पर खरा न उतरता हो अधिक दिन तक टिक नहीं सकता। इसलिए यही मानना पड़ता है कि इन सिद्धान्तों के स्थापिता महापुरुषों को किसी कारण से अवश्य भ्रम हुआ है जिससे उन्होंने विभिन्न एवं विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

उदाहरण के लिए बौद्ध व वेदान्त दर्शनों को लीजिये। बौद्धदर्शन कहता है कि प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है किसी वस्तु की जो दशा आज है वह कल नहीं रहती। मनुष्य के शरीर में भी परिवर्तन होता रहता है, यहाँ तक कि कुछ काल[1] में शरीर के समस्त अवयवों का प्रत्येक परमाणु बदल जाता है। प्रकृति में भी इसी प्रकार परिवर्तन होता रहता है अतः कि

[1] वैद्यक शास्त्र की दृष्टि से शरीर का परिवर्तन सात वर्ष में पूर्ण हो जाता है। शरीर के पहले समस्त परमाणु धीरे धीरे निकल जाते हैं और उनका स्थान नवीन परमाणु ग्रहण कर लेते हैं।

ऋतु-परिवर्तन दिन व दोप-बढ आदि स स्पष्ट है। इस परिवर्तन को देख कर बौद्धदर्शन ने प्रत्येक वस्तु को क्षणिक माना है। इसी क्षणिकवाद क अनुसार उसका कहना है कि मनुष्य के अन्तर्गत जो जीव ह, वह भी स्थिर नहीं रहता है उसम भी परिवर्तन होता रहता है जो जीव आज है वह कल नहीं रहता कल दूसरा जीव होगा। बौद्धदर्शन क इस क्षणिकवाद क बिल्कुल विपरीत वेदान्तदर्शन का नित्यवाद है।

वेदान्त ब्रह्म को शाश्वत व नित्य मानता है, मनुष्य का आत्मा भी ब्रह्म-स्वरूप सत व नित्य है। उसका नाश कभी नही होता न उसम कोई परिवर्तन होता है। जो परिवर्तन दिखलाई देते हैं वे सब भ्रम हैं उनका कोई अस्तित्व नही। स्वर्ण[1] की कुण्डल हार माला कङ्कण मुद्रा आदि अनेक अवस्थाएं होने पर भी स्वर्णत्व म न कोई ह्रास होता है और न वृद्धि। यह स्वर्ण व स्वरूप सदा स्थिर रहता है। ये कुडल हार आदि अवस्थाएं जो दृष्टिगोचर होती हैं वे केवल भ्रम हैं इनमें कोई सार नहीं। वेदान्तदर्शन कहता है कि स्वर्ण के स्वर्णत्व की भांति, मनुष्य की आत्मा शुद्ध चिदानन्द ब्रह्म-स्वरूप है उसम कोई परिवर्तन नही होता वह सत्त्व शुद्ध ब्रह्म-स्वरूप में स्थिर रहता है। प्राणी म जो काम क्रोध आदि अनेक भावनाएं या प्राणी की मनुष्य-पशु आदि अनेक अवस्थाएं जो दृष्टिगोचर होती हैं ये सब मिथ्या एव माया हैं। इस प्रकार वेदान्तदर्शन का नित्यवाद बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद के नितान्त विपरीत है। जब दोनो दर्शनो की युक्तियो पर विचार किया है तो दोनो की युक्तियां सत्य प्रतीत होती हैं एव इन दोनों के परस्पर विरोधी क्षणिक व नित्यवादी सिद्धान्त अपनी अपनी युक्तियों के अनुसार ठीक ठीक जचते हैं। एसी दशा म यह जानने की उत्कण्ठा स्वयमेव होती है कि इन सिद्धान्तो क परस्पर विरोधी होने मे क्या रहस्य है।

इन दर्शनों क नित्य व अनित्य (क्षणिक) वादों के दृष्टान्त एव युक्तियो की सूक्ष्म दृष्टि से परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि य दर्शन एक ही वस्तु

---

[1] दृष्टान्त क तौर पर स्वर्ण को मूल तत्त्व लिखा है यद्यपि नये आविष्कारों से उसके मूल तत्त्व होने में सन्देह है।

को भिन्न भिन्न दृष्टि से देखने के कारण ही इनकी युक्तियाँ के परिणाम एवं उनके आधार पर निश्चित किए गए सिद्धान्त भी भिन्न भिन्न हैं। स्वर्ण एक सरल शुद्ध मूल तत्त्व है जिसकी अवस्था में सदैव परिवर्तन होता रहता है। कभी वह मल अन्य धातु या पदार्थ से मिलकर एक मिश्रित या संयुक्त पदार्थ बन जाता है। कभी हार कुण्डल कंकण आदि सुन्दर आभूषण का रूप धारण कर लेता है। इन समस्त परिवर्तनों के होने पर भी वह स्वर्ण पदार्थ अपने वास्तविक स्वरूप स्वर्णत्व को कभी नहीं छोड़ता। न कभी उस द्रव्य का कोई स्वर्ण परमाणु तांबा लोहा आदि धातु या अन्य वस्तु के परमाणु में परिणत होता है। जब कभी स्वर्ण पदार्थ को, उसके वास्तविक स्वरूप स्वर्णत्व की दृष्टि से, देखा जाता है तो यही कहना पड़ता है कि स्वर्ण एक नित्य पदार्थ है, उसका नाश कभी नहीं होता है न उसमें कोई परिवर्तन होता है। वह सदैव एक सा रहता है जो परिवर्तन उसकी अवस्थाओं में देखा जाता है, वह केवल भ्रम है उसमें सार कुछ नहीं। यह वर्णन वेदान्तदर्शन के नित्यवाद के सदृश एवं बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद के विरुद्ध है। परन्तु जब कभी स्वर्ण के किसी पदार्थ को उसकी बाह्य अवस्था की दृष्टि से देखा जाता है तो कहना पड़ता है कि स्वर्ण अनित्य है, उसमें सदैव परिवर्तन होता रहता है कभी वह मुद्रा हार कंकण आदि आभूषण के रूप में दिखलाई देता है कभी तेजाब व अन्य पदार्थ में संयुक्त होकर विचित्र रासायनिक पदार्थ का रूप धारण कर लेता है। उसकी दशा कभी स्थिर नहीं रहती। यह कथन बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद के अनुकूल एवं वेदान्तदर्शन के नित्यवाद के प्रतिकूल है।

इसी प्रकार जब मनुष्य के अन्तःस्थित आत्मा को उसके वास्तविक स्वरूप की दृष्टि से देखा जाता है तो कहना पड़ता है कि आत्मा नित्य शुद्ध ज्ञान एवं आनन्दमय है क्योंकि अनेक योनियों के धारण करने, काम क्रोध आदि अनेक भावना व प्रवृत्तियों के होने पर भी आत्मा के वास्तविक स्वरूप का विनाश कभी नहीं होता। कर्म बंधन के कारण उसके वास्तविक स्वरूप के आच्छादित एवं विकृत हो जाने पर भी उसका वास्तविक ज्ञान आनन्द स्वरूप शक्ति रूप से उसी दशा में विद्यमान रहता है उसके वास्तविक स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता। वास्तविक स्वरूप की

अवस्था एवं दृष्टियों की उपेक्षा की है। इसका परिणाम यह हुआ है कि आत्मा एवं अन्य पदार्थों के सम्बन्ध में इन दार्शनिकों का वर्णन अधूरा व अपूर्ण है तथा आपस में भिन्न भिन्न और कभी कभी परस्पर विरोधी भी हैं। आत्मा या किसी पदार्थ का पूरा वर्णन तो उसी समय हो सकेगा जब उसके समस्त गुण एवं अवस्थाओं का पूर्ण विवरण भिन्न भिन्न दृष्टियों में किया जाय। इसके लिए आवश्यक है कि भिन्न भिन्न सिद्धान्तों के प्रतिपादन में दार्शनिकों के भिन्न भिन्न दृष्टिकोण को समझा जाय एवं उन समस्त सिद्धान्तों का समन्वय व एकीकरण करके वर्णन किया जाय। भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के एकीकरण कर लेने पर ही उस वस्तु का वर्णन पूर्ण हो सकेगा।

२

स्याद्वाद या अनेकान्तवाद

भारत के दार्शनिकों में से जैनदर्शन ने वस्तु विशेषकर आत्मा के भिन्न भिन्न गुण एवं अवस्था का भिन्न भिन्न दृष्टि से वर्णन किये जाने एवं उनके समन्वय को बड़ा महत्त्व दिया है। इसलिए जैनदर्शन के उपरोक्त सिद्धान्त का संक्षिप्त विवेचन करना यहाँ अनुचित न होगा।

जैनदर्शन कहता है कि प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक[1] है अर्थात् प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण व अवस्थाएं होती हैं। उस वस्तु का पूर्ण वर्णन तो उसी समय हो सकता है जब उसके समस्त गुण व अवस्थाओं का भिन्न भिन्न

---

[1] अनेकान्तात्मक=अनेक+अन्त+आत्मक। संस्कृत भाषा में 'अन्त' शब्द के कितने ही अर्थ होते हैं। यहां पर अन्त शब्द से 'धर्म' अर्थ ग्रहण किया गया है। इसलिए उपरोक्त अनेकान्तात्मक शब्द का अर्थ 'अनेक धर्मवाला' अथवा अनेक गुणवाला होता है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण होते हैं।

[2] स्याद्वाद—स्यात् (कथंचित अर्थात् किसी एक दृष्टि से)+वाद (कथन)। इस स्याद्वाद शब्द के कथन से यह बोध होता है कि विवक्षित वस्तु का वर्णन उसके किसी एक गुण का किसी एक दृष्टि से है उसका वर्णन, अन्य गुण या अन्य दृष्टि की अपेक्षा अन्य प्रकार होता है। कुछ विद्वानों ने 'स्यात्' शब्द का अर्थ शायद समझा है जिसके कारण उन्होंने स्याद्वाद का अर्थ यह लगाया है कि शायद ऐसा हो शायद वैसा हो। उन्होंने इसको सन्देहात्मक बना कर बोधात्मक समझा है। परन्तु जैन विद्वान इसका अर्थ ऐसा नहीं लगाते हैं। वे तो स्यात् शब्द से कथंचित का अर्थ लेते हैं और स्याद्वाद शब्द से यह भाव लेते हैं कि विवक्षित वस्तु के किसी एक गुण का किसी एक दृष्टि से वर्णन है। उस गुण का उस दृष्टि से कथन बिल्कुल निश्चयात्मक है उसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

दृष्टिकोणो मे वर्णन किया जाय। यह असम्भव है कि मनुष्य किसी वस्तु के समस्त गुण एवं अवस्थाओं का वर्णन एकदम, एक साथ कर सके। उसको विवश होकर उस वस्तु के गुण एवं अवस्थाओं का वर्णन क्रम से करना पड़ता है। जो वर्णन किसी वस्तु का किसी समय किया जाता है वह वर्णन उस वस्तु के किसी गुण या पर्याय (अवस्था) का किसी एक दृष्टि से होता है। उस वस्तु के उसी गुण व पर्याय का अन्य दृष्टि से या उस वस्तु के किसी अन्य गुण या पर्याय का उसी दृष्टि से कथन बिल्कुल ही अन्य प्रकार का होता है। किसी वस्तु के वर्णन को उसका सम्पूर्ण वर्णन समझ लेना भूल है। वस्तु के किसी गुण या पर्याय का किसी एक दृष्टि से वर्णन किये जाने को जैनदर्शन 'स्याद्वाद' के नाम से बोधित करता है। जैनदर्शन ने इस स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद को अत्यन्त ऊंचा पद दिया है जैसा कि श्री अमृतचन्द्र आचार्य विरचित पुरुषार्थ सिद्धयुपाय के निम्नलिखित श्लोक से ज्ञात होता है—

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥

अर्थात् (निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्) जन्मान्ध पुरुषों के हस्ति सम्बन्धी भ्रम को दूर करनेवाले (सकलनयविलसितानां) पदार्थों के समस्त दृष्टिकोणों को प्रकाशित करनेवाले (विरोधमथनं) वस्तु-वर्णन सम्बन्धी विरोधों को हटानेवाले (परमागमस्य जीवं) यथार्थ सिद्धान्त के जीव भूत (अनेकान्तम्) अनेक धर्म व दृष्टिकोणों को कहनेवाले स्याद्वाद को (नमामि) मैं, अमृतचन्द्र सूरि नमस्कार करता हूं।

इस श्लोक में आचार्य महोदय ने जन्मान्ध पुरुषों के हाथी नामक आख्यायिका का उदाहरण लेकर अपना अनेकान्त-सम्बन्धी सिद्धान्त पाठकों को अवगत कराया है। कथा इस प्रकार है—

किसी ग्राम में जन्म से अन्धे कितने ही मनुष्य रहते थे। उस ग्राम में एक हाथी आया। हाथी को पहचानने के लिए ये नेत्रहीन मनुष्य उसके अंगों का स्पर्श करने लगे। किसीने उस हाथी के पैर, किसीने दांत, किसी ने उसका धड़, किसीने सूंड, किसीने पूंछ का स्पर्शन किया। उस हस्ति के चले जाने पर ये जन्म से अन्ध मनुष्य अपने अपने हस्ति सम्बन्धी अनुभव

कहने लगे। वह मनुष्य—जिसने हस्ति के पाद का स्पर्शन किया था—कहने लगा कि हाथी स्तम्भ के सदृश होता है। कर्ण का स्पर्श करनेवाला मनुष्य कहता था कि हस्ति सूप (पखे) के समान होता है। इसी प्रकार धड का स्पर्शन करनेवाला मनुष्य हाथी को मस्तिष्क के स्कंध (ढेर) सदृश, सूंड का स्पर्शन करनेवाला मनुष्य हाथी को मूसल के तुल्य, पूंछ का स्पर्शन करनेवाला मनुष्य हाथी को लाठी के समान, दांत का स्पर्शन करनेवाला मनुष्य हाथी को डंडे के सदृश कहता था। य जन्मान्ध मनुष्य परस्पर वाद-विवाद एवं झगड़ा करने लगे। प्रत्येक मनुष्य अपने कथन को सत्य तथा दूसरे मनुष्य के कथन को असत्य बतलाता था। कुछ देर तक वाद विवाद होता रहा। वे किसी निर्णय पर न पहुंच सके। उनके वाद विवाद को सुनकर एक नेत्रवान पथिक—जिसने हाथी का सर्वांग देखा था—उनके पास आया और कहने लगा कि तुम सब मनुष्य व्यर्थ ही झगड़ा करते हो तुमने हस्ति के भिन्न भिन्न अंगों का स्पर्शन किया है तुम्हारा सबका कथन अपने स्पर्शित अंग का सत्य है, कथन एक ही भूल है। यह कहना कि हाथी स्तम्भ के ही सदृश होता है या हाथी सूप, स्तम्भ, लाठी, मूसल या डंडे के ही तुल्य होता है मिथ्या व असत्य है। तुम सब अपने अपने कथन को मिलाकर कहो। सबका मिला हुआ कथन हाथी का सत्य वर्णन होगा। हाथी स्तम्भ के सदृश भी होता है, सूप के समान भी और इसी प्रकार मूसल, लाठी, डंडा व स्कंध के समान भी होता है। तुम सबने हस्ति के भिन्न भिन्न अंगों का स्पर्शन किया है इसलिए तुम्हारे कथन में परस्पर विरोध है। सब अंगों के कथन मिलाने से हस्ति का पूर्ण वर्णन हो सकेगा।

इस श्लोक का भावार्थ यह है कि जिस प्रकार नेत्रवान पथिक ने जन्म से अंधे मनुष्यों के हस्ति-सम्बन्धी विरोध को मिटा दिया था इसी प्रकार यह स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) मनुष्यों के पारस्परिक विरोध को दूर करने वाला है। वस्तु के समस्त गुण एवं अवस्थाओं को भिन्न भिन्न दृष्टियों से दर्शानेवाला है इसलिए यह स्याद्वाद यथार्थ ज्ञान का जीवन एवं प्राण है। स्याद्वाद का महत्व एवं उसकी अत्यन्त आवश्यकता दिखलाने के लिए उसको नमस्कार किया है।

इस आम्नायिका में जो विरोध का कारण दर्शाया गया है वही कारण

दृष्टिकोणों में वर्णन किया जाय। यह असम्भव है कि मनुष्य किसी वस्तु के समस्त गुण एवं अवस्थाओं का वर्णन एकदम, एक साथ कर सके। उसको विवश होकर उस वस्तु के गुण एवं अवस्थाओं का वर्णन क्रम से करना पड़ता है। जो वर्णन किसी वस्तु का किसी समय किया जाता है वह वर्णन उस वस्तु के किसी गुण या पर्याय (अवस्था) का किसी एक दृष्टि से होता है। उस वस्तु के उसी गुण व पर्याय का अन्य दृष्टि से या उस वस्तु के किसी अन्य गुण या पर्याय का उसी दृष्टि से कथन बिल्कुल ही अन्य प्रकार का होना है। किसी वस्तु के वर्णन को उसका सम्पूर्ण वर्णन समझ लेना भूल है। वस्तु के किसी गुण या पर्याय का किसी एक दृष्टि से वर्णन किये जाने को जैनदर्शन 'स्याद्वाद' के नाम से बोधित करता है। जैनदर्शन ने इस स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद को अत्यन्त ऊंचा पद दिया है जैसा कि श्री अमृतचन्द्र आचार्य विरचित 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय' के निम्नलिखित श्लोक से ज्ञात होता है—

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥

अर्थात (निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम) जन्मान्ध पुरुषों के हस्ति सम्बन्धी भ्रम को दूर करनेवाले, (सकलनयविलसितानां) पदार्थों के समस्त दृष्टिकोणों को प्रकाशित करनेवाले (विरोधमथनं) वस्तु वर्णन सम्बन्धी विरोधों का हटानेवाले (परमागमस्य जीवं) यथार्थ सिद्धान्त के जीव भूत (अनेकान्तम्) अनेक धर्म व दृष्टिकोणों को कहनेवाले स्याद्वाद को (नमामि) मैं अमृतचन्द्र सूरि नमस्कार करता हूं।

इस श्लोक में आचार्य महोदय ने जन्मान्ध पुरुषों के हाथी नामक आख्यायिका का उद्धरण देकर अपना अनेकान्त-सम्बन्धी सिद्धान्त पाठकों को अवगत कराया है। कथा इस प्रकार है—

किसी ग्राम में जन्म से अन्धे कितने ही मनुष्य रहते थे। उस ग्राम में एक हाथी आया। हाथी को पहचानने के लिए ये नेत्रहीन मनुष्य उसके अंगों का स्पर्श करने लगे। किसीने उस हाथी के पैर, किसीने दांत, किसी ने उसका धड़, किसीने सूंड, किसीने पूंछ का स्पर्शन किया। उस हस्ति के चले जाने पर ये जन्म से अन्ध मनुष्य अपने अपने हस्ति सम्बन्धी अनुभव

भिन्न भिन्न दशनो के परस्पर विरोध का है। प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक होती है उसमे बहुत से गुण एव अवस्थाए होती हैं और उनका वणन भी भिन्न भिन्न पक्ष व दृष्टि से किया जाता है। कोई मनुष्य किसी वस्तु के किसी एक गुण का किसी एक दृष्टि से, वणन करता है, दूसरा मनुष्य उसी वस्तु के उसी गुण का किसी दूसरी दृष्टि से तीसरा मनुष्य उस वस्तु के उसी गुण का तीसरी दृष्टि से, तथा अन्य मनुष्य उसी वस्तु के उसी गुण का, अन्य दृष्टियों से वणन करते हैं। अथवा एक मनुष्य किसी विवक्षित वस्तु के एक गुण का वणन करता है, दूसरा मनुष्य उसी वस्तु के किसी दूसरे गुण का तीसरा मनुष्य उसके किसी तीसरे गुण का और अन्य मनुष्य उस वस्तु के अन्य गुणो का वणन करते हैं। इस प्रकार एक ही वस्तु के भिन्न भिन्न गुणो का भिन्न भिन्न दृष्टियो से वणन अनेक प्रकार होता है। यदि उनम से कोई मनुष्य यह कह कि जो मैं कहता हू, वही सत्य है, वही उस वस्तु का रूप है अन्य प्रकार नही हो सकता, दूसरे मनुष्यो का कथन मिथ्या है तो उसके इस कथन म उसकी भूल माननी होगी। उस वस्तु का यथाथ वणन तो उसी समय हो सकेगा कि जब उसके समस्त गुण व अवस्थाओ के भिन्न भिन्न दृष्टि से कथित वणन को एक साथ मिला लिया जाय।

उदाहरणाथ किसी स्त्री का वणन करना है। एक मनुष्य उसकी सुन्दरता रूप लावण्य, शरीर की सुडौलता का वणन करता है दूसरा मनुष्य उसकी धन-सम्पत्ति परिधान आभूषण आदि ऐश्वय की सामग्रियो का तीसरा व्यक्ति उसकी कुशाग्र एव व्यवसायिक बुद्धि का चौथा व्यक्ति उसकी दानशीलता का अन्य व्यक्ति उसके स्वभाव आदि अन्य गुणो का वणन करता है। इनम से प्रत्येक व्यक्ति का कथन अपूण एव अधूरा है। उस स्त्री का पूण वणन तो उस समय हो सकेगा कि जब सब व्यक्तियो के भिन्न भिन्न दृष्टियो से भिन्न भिन्न गुणों की कथनावली को एकत्र करके कहा जाय। यदि कोई मनुष्य यह कहे कि उस स्त्री के सम्बन्ध म मैं जो कुछ कहता हू वही उस स्त्री का यथाथ वणन है उस स्त्री का वणन अन्य प्रकार नही हो सकता न उस स्त्री म अन्य गुण हैं तो इस कथन म उस व्यक्ति की भूल माननी होगी। उस स्त्री या किसी वस्तु के यथाथ वणन की दो ही रीति हो सकती हैं—या तो उसके समस्त गुण एव अवस्थाओ का वणन सब

दृष्टियों से किया जाय या उसके कुछ विवक्षित गुणों का वर्णन कुछ दृष्टियों से करके यह कह दिया जाय कि इन दृष्टियों से वर्णित गुणों के अतिरिक्त उसमें अन्य गुण व अवस्थाएं भी हैं जिनका भिन्न भिन्न दृष्टियों की अपेक्षा अन्य प्रकार से कथन किया जा सकता है। इन दोनों रीतियों में से किसी एक रीति के धारण करने पर ही पाठक एवं श्रोताओं को भ्रम नहीं होता। अन्यथा वे उस वस्तु के कुछ गुणों का कुछ दृष्टियों की अपेक्षा कथन सुन लेने पर यही धारणा बना लेंगे कि उसमें केवल गुण ही वर्णित हैं इनके अतिरिक्त उसमें न अन्य गुण हैं और न वर्णित गुणों का कथन अन्य दृष्टियों की अपेक्षा अन्य प्रकार हो ही सकता है।

प्रत्येक वस्तु साधारणतया अनेकान्तात्मक (अनेक गुण व अवस्था वाली) होता है। मनुष्य के लिए यह बड़ा कठिन है कि उस वस्तु के समस्त गुण एवं अवस्थाओं का भिन्न भिन्न दृष्टियों से वर्णन करे। इसके अतिरिक्त केवल उसी गुण या अवस्था का वर्णन उस दृष्टि से किया जाता है जिस दृष्टि से जिस गुण के कथन करने की आवश्यकता उस समय की परिस्थिति के अनुसार प्रतीत होती है। अन्य अनावश्यक दृष्टि से उस गुण या अन्य अनावश्यक गुणों के वर्णन करने की उस समय उपेक्षा की जाती है। ऐसी दशा में यह हृदय में धारण कर लेना प्रत्येक व्यक्ति के लिए लाभदायक होगा कि प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है, और जो कथन किसी समय किया जाता है वह स्याद्वाद रूप (किसी एक गुण का किसी एक दृष्टि) से वर्णन है।

जैन दर्शन में कथनशैली को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया है—

१ द्रव्यार्थिक नय—(द्रव्य + आर्थिक) पदार्थ के यथार्थ स्वरूप की नय-दृष्टि से वर्णन करना। इस दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ का वर्णन उसके वास्तविक स्वरूप की अपेक्षा से किया जाता है। इस नय से पदार्थ नित्य ठहरता है। इस दृष्टि से आत्मा नित्य शुद्ध निर्विकार ज्ञान एवं आनन्दमय निश्चित होता है। यह वर्णन वेदान्तदर्शन द्वारा प्रतिपादित आत्मस्वरूप सदृश है। इस द्रव्यार्थिक नय को सत्यार्थ भूतार्थ या निश्चय नय के नाम से भी बोधित किया है।

२ पर्यायार्थिक नय—(पर्याय + आर्थिक) बाह्य अवस्था की (नय)

दृष्टि से वस्तु का वर्णन करना। इस दृष्टि से प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। आत्मा भी अस्थिर अनित्य एवं क्षणिक है क्योंकि उसकी बाह्य अवस्था में सदा परिवर्तन होता रहता है। यह कथन बौद्धदर्शन द्वारा प्रतिपादित क्षणिकवाद के तुल्य है। इस पर्यायार्थिक नय को जैन दर्शन ने अमत्यार्थ, अभूतार्थ या व्यवहार-नय के नाम से भी पुकारा है।

जैनदर्शन ने कथनशैली को और भी कई प्रकार से विभक्त किया है, जिनका वर्णन जैन ग्रंथों के अध्ययन द्वारा जाना जा सकता है। यहां पर उनका उद्धरण करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता है।

३

सापेक्षवाद

विज्ञान के सुप्रसिद्ध आचार्य प्रोफेसर अलबर्ट आइंस्टीन ने इस बीसवीं शताब्दी में सापेक्षवाद[1] के सिद्धान्त का आविष्कार करके वैज्ञानिक जगत में हलचल मचा दी है। बहुत सी पुरानी धारणाओं को असत्य व भ्रमात्मक प्रमाणित कर दिया और अब यह सापेक्षवाद का सिद्धान्त निर्विवाद रूप से नया आविष्कार स्वीकार कर लिया गया है।

प्रोफेसर आइंस्टीन कहते हैं हम केवल आपेक्षिक सत्य को ही जान सकते हैं सम्पूर्ण सत्य तो सर्वज्ञ के द्वारा ही ज्ञात है। प्राकृतिक स्थितियों के विषय में भी आइंस्टीन अपेक्षा प्रधान बात कहते हैं। उन्होंने कहा है प्रकृति ऐसी है कि किसी भी प्रयोग द्वारा चाहे वह कैसा ही क्यों न हो वास्तविक गति का निर्णय असम्भव ही है। इसकी सर जेम्स जीन्स निम्न प्रकार व्याख्या करते हैं गति और स्थिति आपेक्षिक धर्म हैं। एक जहाज जो स्थिर है वह पृथ्वी की अपेक्षा से ही स्थिर है किन्तु पृथ्वी सूर्य की अपेक्षा से गति में है अतः जहाज भी इसके साथ गति में है। यदि पृथ्वी भी सूर्य के चारों ओर घूमने से रुक जाय तो जहाज सूर्य की अपेक्षा स्थिर हो जायगा किन्तु दोनों तब भी इर्द गिर्द के तारों की अपेक्षा गति करते रहेंगे। सूर्य भी यदि गतिशून्य हो जाय तो भी वह दूरस्थ नीहारिकाओं की अपेक्षा से गतिशील रहेगा। आकाश से इस प्रकार यदि हम आगे आगे जायगे तो हम पूर्ण स्थिति जैसी कोई वस्तु नहीं मिलेगी। तात्पर्य यह हुआ कि सापेक्ष

---

[1] हिन्दी लेखकों ने 'थ्योरी आफ रिलेटिविटी' का अनुवाद सापेक्षवाद किया है। वैसे ही सर राधाकृष्णन् आदि अग्रणी लेखकों ने स्याद्वाद का अनुवाद थ्योरी आफ रिलेटिविटी किया है। इस प्रकार दो विभिन्न क्षेत्रों में प्रारम्भ हुए दो सिद्धान्तों का नाम साम्य कौतूहल व जिज्ञासा का विषय है।

वाद के अनुसार प्रत्येक ग्रह व प्रत्येक पदार्थ चर भी है और स्थिर भी है।

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक एडिंगटन लिखते हैं 'मैं सोचता हूं कि हम बहुधा सत्य एवं वास्तविक सत्य के बीच रेखा खींचते हैं। एक वक्तव्य, जो केवल पदार्थ के बाह्य स्वरूप से सम्बन्ध रखता है कहा जा सकता है कि वह सत्य है। एक वक्तव्य जो कि केवल बाह्य स्वरूप को ही व्यक्त नहीं करता परन्तु उसकी तह में स्थित सचाई का भी प्रकट करता है वह वास्तविक सत्य है।

इस प्रकार विज्ञान प्राकृतिक पदार्थों के सम्बन्ध में भी सापेक्षवाद का स्वीकार करके उनको चर व अचर बाह्य स्वरूप की अपेक्षा से एक प्रकार का सत्य और आन्तरिक अवस्था की दृष्टि से वास्तविक सत्य मानता है।

४

दर्शनों की विभिन्नता के कारण

अन्य वस्तुओं की भांति आत्मा भी अनन्तात्मक है। इसमें ज्ञान आदि अनेक गुण व अवस्थाएं हैं। किसी एक आचार्य ने उस आत्मा के किसी एक गुण या अवस्था का वर्णन किया है एवं अन्य गुण व अवस्थाओं की उपेक्षा की है। दूसरे आचार्यों ने उस आत्मा के किसी दूसरे ही गुण या अवस्था का वर्णन एवं अन्य समस्त गुण व अवस्थाओं की उपेक्षा की है। किसी आचार्य ने आत्मा के किसी एक गुण का वर्णन एक दृष्टि से किया है दूसरे आचार्य ने आत्मा के उसी गुण का वर्णन किसी दूसरी ही दृष्टि से किया है। भिन्न भिन्न गुण एवं अवस्था के भिन्न भिन्न दृष्टियों से वर्णन तथा अन्य गुण व अवस्था एवं अन्य दृष्टियों की उपेक्षा करने के कारण ही भिन्न भिन्न दर्शनों में इतना अधिक अन्तर हो गया है। आत्मा की उपमा उस उपवन से भी दी जा सकती है जो नाना भांति के सुन्दर, सुगन्धित, चित्ताकर्षक पुष्प, लता, पौधे एवं अनेक प्रकार के मधुर स्वादिष्ट फलों के वृक्षों से भरपूर है जिसके कारण उस उपवन की शोभा अतुलनीय है। यदि उस उपवन का माली एक ही प्रकार के पौधे का सिंचन, नलाई व देखभाल करे और अन्य प्रकार के समस्त वृक्षों, पुष्पों, लताओं आदि की देखभाल पर ध्यान न दे न उनकी रक्षा करे तो परिणाम यह होगा कि उस उपवन की समस्त शोभा, मधुरता, सुगन्धता एवं सुन्दरता ही नष्ट हो जायगी। एवं उन्नत आत्मा अनेक प्रकार की शक्ति विशेषता गुण एवं भावना से युक्त इतना ही सुन्दर व चित्ताकर्षक है, जितना कि सुन्दर पुष्प फल आदि से युक्त मनोहर उपवन। यदि आत्मा के केवल एक ही गुण विशेषता या शक्ति पर ध्यान दिया जाय अथवा वर्णन किया जाय एवं अन्य समस्त गुण, शक्ति व विशेषताओं की उपेक्षा की जाय तो इसका एक परिणाम यह होगा कि उस अनन्त शक्ति एवं गुण युक्त आत्मा की सम्पूर्ण सुन्दरता, मधुरता एवं विशेषता ही नष्ट हो जायगी।

भिन्न भिन्न आचार्यों ने भिन्न भिन्न गुणों का वर्णन [illegible]

यदि किसी देश के निवासियों में मद्यपान व्यभिचार एवं विलास प्रियता की प्रवृत्ति बढ़ गई है और उस प्रवृत्ति के कारण अन्य दोष भी उत्पन्न हो गए हैं तो उस देश के महान पुरुषों का ध्यान स्वयं ही समाज की इस शोचनीय दुर्व्यवस्था की ओर आकर्षित होगा। वे ऐसे सिद्धान्तों की रचना एवं प्रचार करेंगे जिनसे मद्यपान व्यभिचार विलास प्रियता आदि दोष दूर हो जाय। वे व्यभिचार मद्यपान आदि प्रचलित दोषों का घोर प्रतिवाद करेंगे एवं उन दोषों का समूलोन्मूलन करने का प्रबल प्रयास करेंगे।

समाज की परिस्थिति एवं उसकी तात्कालिक आवश्यकताओं का प्रभाव उस समय के महान पुरुषों पर पड़ता है। उन आवश्यकताओं की पूर्ति की भावना से प्रेरित होकर देश व समाज के हित के लिए, ये महान पुरुष समयोपयोगी सिद्धान्तों का निर्माण करते हैं। उनका ध्यान आत्मा के अनन्त गुणों में से उस गुण एवं उस दृष्टि की ओर आकर्षित होता है जिसकी अधिकता की आवश्यकता उस समय होती है। वे महान पुरुष तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाली दृष्टि एवं गुण का विशेष प्रतिपादन करते हैं तथा अन्य दृष्टि व अन्य गुणों का—अनावश्यक समझे जाने या उस ओर ध्यान से आकर्षित न होने से—वर्णन छूट जाता है।

इस प्रकार भिन्न भिन्न आचार्यों ने स्वरुचि अनुसार अथवा तात्कालिक समाज की परिस्थिति से प्रभावित होकर अथवा दोनों के ही कारण आत्मा के भिन्न भिन्न गुण व अवस्थाओं का भिन्न भिन्न दृष्टि से वर्णन किया है। इन आचार्यों या इनके शिष्यों द्वारा कुछ गुणों का मात्रा से अधिक वर्णन होने एवं अन्य गुणों की उपेक्षा किये जाने के कारण ही भिन्न-भिन्न दर्शन एवं सिद्धान्तों का जन्म हुआ है।

यहा पर यह जान लेना उचित ही जान पड़ता है कि प्रचलित मुख्य दर्शन एवं धर्मों ने आत्मा के किस किस गुण को किस किस दृष्टि से देखा है एवं अन्य गुण व अन्य दृष्टियों की उपेक्षा की है तथा उन धर्मों पर उनकी उत्पत्ति के समय विद्यमान परिस्थिति का क्या कितना प्रभाव पड़ा है। यह जान लेने से इन दर्शनों की विभिन्नता व विरोध के कारण और भी अधिक स्पष्ट दिखलाई देने लगेंगे एवं इन दर्शनों व धर्मों के यथार्थ समझने में अधिक सहायता मिलेगी।

है। आत्मा के ज्ञान आनन्द-स्वरूप एवं अन्य गुणों का कथन नहीं किया है। इन दर्शनों ने आत्मा के आनन्द आदि अन्य गुणों की उपेक्षा की है। इन दर्शनों ने आत्मा को मात्र शुद्ध, निर्विकार निरञ्जन अकर्ता व ज्ञाता माना है। इनके अनुसार आत्मा सदैव शुद्ध निर्विकार रहता है उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। आत्मा कोई कार्य नहीं करता है। वह केवल द्रष्टा एवं ज्ञाता है। संसार के प्राणियों में काम क्रोध आदि अनेक प्रकार की जो भावनाएं पाई जाती हैं अनेक प्रकार की चेष्टाएं व मानसिक विकल्प जो उनमें दृष्टिगोचर होते हैं वह सब प्रकृति का ही विकार माना है। इन दर्शनों के अनुसार प्रकृति में ही अनेक प्रकार के परिवर्तन हो रहे हैं। आत्मा सदैव द्रष्टा व ज्ञाता रहता है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि इन दार्शनिकों ने आत्मा को केवल वास्तविक शुद्ध चेतन-स्वरूप की ही दृष्टि से (निश्चय नय) देखा है कर्मों के आवरण के कारण आत्मा की विद्यमान परिवर्तनशील बाह्य अवस्था की सर्वथा उपेक्षा की है।

सांख्यदर्शन ने इस दृश्यमान जगत की उत्पत्ति एवं प्रलय की विशेष व्याख्या की है। इस दर्शन के अनुसार इस सृष्टि का कर्ता एवं संहारक कोई विशेष चेतन शक्ति अथवा ईश्वर नहीं है और न आत्मा (पुरुष) ही कर्ता है। इसलिए इस जगत की उत्पत्ति एवं प्रलय का कारण प्रकृति का परिवर्तन ही है।[1]

योगदर्शन का मुख्य विषय योगाभ्यास का प्रतिपादन करना है जिसके

---

[1] सांख्यदर्शन में इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया हुआ है। सत्व रज व तम गुण के सम भाव हो जाने पर प्रकृति अव्यक्त दशा में पहुंच जाती है उस समय यह दृश्यमान जगत लय हो जाता है। इस दशा को प्रलय कहा जाता है। कुछ समय के पश्चात प्रकृति अव्यक्त दशा से व्यक्त दशा की ओर झुकती है। सत्व रज व तम गुणों में विषमता उत्पन्न हो जाती है। सबसे प्रथम प्रकृति में महत भाव (बुद्धि) उत्पन्न होता है, फिर अहंकार का जन्म होता है। उसके पश्चात मन, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां पांच तन्मात्राएं व स्थूल पंचभूत उत्पन्न होते हैं जिनके उत्पन्न होने पर सृष्टि की उत्पत्ति होती है।

दुःख से मुक्त होना ही मोक्ष की प्राप्ति करना है। इन दर्शनों में यह स्पष्ट रूप से वर्णन नहीं किया गया है कि मुक्त होने पर आत्मा की क्या अवस्था होती है।

न्यायदर्शन के प्रमेय सम्बन्धित सूत्र में किसी ईश्वर का वर्णन नहीं है। केवल टीकाकारों ने प्रमेय तत्त्व में कथित आत्मा के दो भेद किये हैं— सांसारिक आत्मा व परमात्मा। नैयायिकों के सदृश ही वैशेषिकों ने भी ईश्वर विषय का विशेष प्रतिपादन नहीं किया है। आत्मद्रव्य के ही संसारी आत्मा व परमात्मा दो भेद किये हैं। परमात्मा को आत्मा का कर्मफलदाता भी कहा है।

इन दोनों दर्शनों में आत्म-स्वरूप का प्रतिपादन उसकी विद्यमान सांसारिक दृष्टि (पर्यायार्थिक नय) से किया है जबकि पूर्व वर्णित सांख्य व योगदर्शनों में आत्मा के ज्ञान-स्वरूप का वर्णन उसके वास्तविक स्वरूप की दृष्टि (द्रव्यार्थिक नय) से किया गया है। भिन्न भिन्न दृष्टियों से प्रतिपादन किये जाने के कारण ही इन दर्शनों के द्वारा प्रतिपादित आत्म-स्वरूप के वर्णन में विभिन्नता एवं अन्तर दिखलाई पड़ता है।

३—वेदान्त या उत्तर-मीमांसा

भारत की शिक्षित हिन्दू जनता में वेदान्तदर्शन की मान्यता सबसे अधिक है। इस दर्शन ने केवल एक तत्त्व ब्रह्म ही माना है जो सच्चिदानन्द सर्वव्यापी है। संसार में जो अनन्त आत्माएं दृष्टिगोचर होती हैं, वे सब ब्रह्म के ही अंश या प्रतिबिम्ब हैं। इस वेदान्तदर्शन के अन्तर्गत कई वाद प्रचलित हैं (जिनका वर्णन आगे किया जायगा)। ये आत्माएं पूर्व कर्म संस्कारों के कारण संसार की अनेक योनियों में जन्म धारण करती हुई भ्रमण करती रहती हैं। ब्रह्म का अंश होने के कारण प्रत्येक आत्मा सच्चिदानन्द है। आत्मा सदैव शुद्ध निरंजन ज्ञान व आनन्दमय है। मनुष्य अपनी अज्ञानता एवं भ्रम के कारण अपने को सुखी-दुःखी रोगी निरोगी ज्ञानी अज्ञानी आदि मानता है। जबतक वह अज्ञान में फंसा रहता है तब तक उसको संसार में भ्रमण करना पड़ता है। आत्मा के सच्चिदानन्द

स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर, वह आत्मा ससार भ्रमण से मुक्त हो जाता है एव सच्चिदानन्द ब्रह्म-स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

मनुष्य की बाह्य अवस्था म जो निरन्तर परिवतन होता रहता है जिसके कारण मनुष्य मे काम क्रोध आदि अनेक प्रकार की भावनाए, ज्ञान आदि म न्यूनता अधिकता एव अनेक प्रकार के रूप रग आदि दिखलाई देते हैं इनको 'माया के नाम' म बोधित किया है। बाह्य जगत को भी माया बतलाया है। इस वणन से स्पष्ट है कि वेदान्तदशन न आत्मा के ज्ञान एव आनन्द गुण पर केवल आत्मा के वास्तविक स्वरूप की दृष्टि (द्रव्यार्थिक नय) से विचार किया है। बाह्य अवस्था की दृष्टि (पर्यायार्थिक नय) से बिलकुल विचार नहीं किया है। बाह्य अवस्था को उपेक्षा की दृष्टि से देखा है।

आत्मा की सत्ता के सम्बन्ध म कितने ही विभिन्न वाद वेदान्तवाद मे गर्भित हैं। श्री शकराचाय द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद म ब्रह्म और जीव एक ही हैं दृश्यमय जगत माया है। मनुष्य म परस्पर विभिन्नता राग द्वेषादि भावनाए पाई जाती हैं यह सब माया है। माया का स्वरूप अनिर्वचनीय बतलाया है। दूसरा वाद श्री रामानुजाचाय प्रतिपादित विशिष्टाद्वैत है। इस वाद के अनुकूल यद्यपि ईश्वर जीव व जगत तीनो ही भिन्न भिन्न हैं तथापि जीव (चित्) और जगत (अचित) ये दोनो ही एक ईश्वर के अग हैं इसलिए चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर एक ही है। इस ईश्वर शरीर के सूक्ष्म चित अचित से ही स्थूल चित और स्थूल अचित अथात अनन्त जीव और जगत की उत्पत्ति हुई है। तीसरे वाद के प्रवतक श्री माधवाचाय हैं जिसे द्वैतवाद कहते हैं। इसके अनुकूल ईश्वर व जीव सवथा भिन्न ही हैं। चतुथवाद शुद्धाद्वैत श्री वल्लभाचाय द्वारा प्रतिपादित किया गया है। इसके अनुसार मायारहित शुद्ध जीव और ईश्वर एक ही हैं। मायात्मक जगत मिथ्या नहीं है। माया परमेश्वर की इच्छा से ही विभक्त हुई है माया एक शक्ति है। इनके अतिरिक्त कितने ही भिन्न भिन्न भाव वेदान्त दशन म गर्भित हैं।

पदार्थो के सम्बन्ध म विचारने से ज्ञात होता है कि भिन्न भिन्न दार्शनिकों ने ससार के समस्त चेतन व अचेतन पदार्थों को कुछ मूल तत्त्वो म

विभक्त किया है। वैशेषिकदर्शन ने समस्त पदार्थों को नौ द्रव्यों में विभाजित किया है। योगदर्शन ने तीन द्रव्यों में और सांख्यदर्शन ने पुरुष व प्रकृति दो ही मूल तत्वों में संसार के समस्त चेतन व अचेतन पदार्थों को विभक्त किया है। इसी प्रकार वेदान्तदर्शन ने समस्त चेतन व अचेतन पदार्थों का एक ही मूल तत्त्व में समाविष्ट करने का प्रयत्न किया है। एक ही मूल तत्त्व में सीमित करने के कारण कितने ही वाद उत्पन्न हो गये हैं। एक ही मूल तत्त्व ब्रह्म वेदान्तदर्शन ने स्वीकार किया है। सत्तागुण संसार के समस्त चेतन अथवा अचेतन पदार्थों में सामान्य रूप से पाया जाता है। यदि संसार के पदार्थों पर केवल सत्ता गुण की ही दृष्टि से विचार किया जाय तो कहना पड़ेगा कि संसार के समस्त पदार्थों का आधार सत्तात्मक पदार्थ है। वेदान्तदर्शन ने संसार के पदार्थों का केवल सत्ता की दृष्टि से विचार किया है। इसलिए उसने केवल एक सत्तात्मक पदार्थ ब्रह्म माना है। इस ब्रह्म सत्तात्मक पदार्थ में चेतन व अचेतन सर्व पदार्थ सम्मिलित हैं। इसी कारण ब्रह्म को निर्गुण कहा है और उसकी व्याख्या नेति-नेति करके निषेधात्मक रूप में करनी पड़ी है एवं उसका स्वरूप अनिर्वचनीय बतलाना पड़ा है।

३—पूर्व-मीमांसा

पूर्व मीमांसा के प्रणेता श्री जैमिनि आचार्य हैं। इन्होंने वेद विहित कर्मवाद का प्रतिपादन किया है। इसके अनुसार मनुष्य को वेद विहित देवी-देवताओं की पूजा, यज्ञ एवं बलि देनी चाहिए। इन कर्मों से उसको स्वर्ग एवं अन्य प्रकार के सुख व सम्पत्ति प्राप्त होती है। मनुष्य को अपने कर्मों का फल स्वयं मिलता रहता है। कर्मों का फल देनेवाला कोई ईश्वर नहीं है, न संसार का कोई व्यवस्थापक परमात्मा है। बल्कि धर्म में अनेक देवता मान गये हैं उनमें मुख्य तीन हैं—सूर्य इन्द्र और अग्नि।

सूर्य आकाश का राजा और सरदार है। शेष देवता उसको पथ प्रदर्शक मानते हैं और वह उनको अमर जीवनदान देता है। इन्द्र वज्र का अधिष्ठाता है एवं देवताओं की सेना का सेनापति है। उसका शत्रु असुरों का स्वामी विरित्र है, जिसके साथ उसका संग्राम होता रहता है जिसको इन्द्र ने मग-

(घ) इन्द्र अपने पिता का भी पिता है।

(च) इन्द्र का युद्ध सदैव असुरों के स्वामी विरित्र के साथ होता रहता है जिसको इन्द्र ने अगणित बार परास्त एवं संहार किया है परन्तु वह विरित्र बार-बार जीवित होकर युद्ध करता रहता है।

इनकी व्याख्या निम्न प्रकार की जा सकती है—

(क) सांसारिक आत्मा बुद्धि द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है। शिष्य भी गुरु द्वारा ज्ञान की प्राप्ति करता है अतएव बुद्धि ही मनुष्य (सांसारिक आत्मा) की गुरु हुई। बुद्धि साधारणतया विषयवासना की—जिसकी तृप्ति बाह्य पदार्थों के भोगने से होती है—ओर आकर्षित होती है आत्मा की ओर बहुत कम जाती है जैसा कि प्रायः संसार में देखा जाता है। इस प्रकार बुद्धि का साधारणतया सम्बन्ध बाह्य पदार्थ अथवा प्रकृति से है। इसलिए प्रकृति को बुद्धि की पत्नी कहा जा सकता है। जीव व प्रकृति के समागम को अलंकारिक भाषा में यह कह सकते हैं कि इन्द्र (सांसारिक आत्मा) ने अपने गुरु (बुद्धि) की पत्नी (प्रकृति) से सम्भोग किया।

(ख) मनुष्य ने बाह्य पदार्थों (प्रकृति) में मस्त रहने के कारण पाप कर्मों का बन्धन किया जिससे सूक्ष्म पुद्गल-परमाणु कर्म रूप में परिवर्तित होकर उसकी आत्मा के साथ सम्बन्धित हो गये। इन कर्म-परमाणुओं का आत्मा के ऊपर आरोपित होना ही काले धब्बों का निकलना है।

(ग) मनुष्य को जब ब्रह्मज्ञान हो गया जब वह समझ गया कि उसकी आत्मा ही ब्रह्म है तो उसकी आत्मा ज्ञान से प्रकाशित हो गई। ज्ञान से प्रकाशित होना ही नेत्रों का खुल जाना है। ज्ञान सम्पूर्ण आत्मा में [illegible] है और आत्मा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है इसलिए सम्पूर्ण शरीर में [illegible] का होना बतलाया है।

(घ) चिदानन्द स्वरूप परमात्म अवस्था ही आत्मा की [illegible] अवस्था है इसलिए उसको (चिदानन्द परमात्म अवस्था [illegible]) आत्मा का पिता कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त [illegible] अवस्था संसारी अपवित्र आत्म अवस्था से प्राप्त [illegible] परमात्मा का उपादान कारण संसारी आत्मा है [illegible] का चिदानन्द परमात्मा का पिता कहा जा सकता है [illegible]

भाषा म निम्न प्रकार कह सकते हैं—इन्द्र (ससारी आत्मा) अपने पिता (चिदानन्द स्वरूप परमात्मा) का भी पिता (उपादान कारण) है।

(च) काम क्रोध आदि क्षुद्र वृत्तिया ही असुरो की गना है। इन क्षुद्र वृत्तियो का सरदार मोह राजा (ममताभाव) ही असुरो का स्वामी विरित्र है जिसके साथ इन्द्र (आत्मा) का सदा युद्ध होता रहता है। ससारी आत्मा, जब आत्म ज्ञान से युक्त होकर शुद्ध होने का प्रयत्न करता हुआ परमात्म अवस्था को प्राप्त होता है उस समय उसको अपनी क्षुद्र वृत्तियो से घोर सग्राम करके उन्हे परास्त एव मोह ममता भाव का नाश करना होता है इसीको अलकारिक भाषा म, इन्द्र का असुरो के स्वामी विरित्र के साथ सग्राम करना एव विरित्र का परास्त व सहार करना कहा जा सकता है।

३ अग्नि तीसरा देवता है। तपस्या की उपमा प्राय अग्नि स ही दी जाया करती है। यह साधारणतया कहा जाता है कि तपस्या द्वारा आत्मा इस प्रकार शुद्ध हो जाता है जसे अग्नि म तपाने से स्वर्ण शुद्ध हो जाता है। अत अग्निदेव से तात्पर्य तपस्या से है। अग्नि देवता के सम्बन्ध म निम्न प्रकार कहा गया है—

(क) उसके तीन पर है।

(ख) उसके सात हाथ हैं।

(ग) उसके सात जिह्वाए हैं।

(घ) वह देवताओ का पुरोहित है जो उसके बुलाने से आते हैं।

(ङ) वह भक्ष्य और अभक्ष्य दोनो प्रकार के पदार्थों का भक्षण कर जाता है।

(च) वह देवताओ को बल देता है अर्थात जितना अधिक बलिदान अग्नि पर चढाया जाता है देवताओ की उतनी ही अधिक पुष्टि होती है।

इनकी व्याख्या निम्न प्रकार की जा सकती है—

(क) तप तीन प्रकार स होता है अर्थात मन वचन एव शरीर वश म करने स। यदि मन वचन व शरीर, इन तीनो म से किसी दो पर नियन्त्रण किया जाय और तीसरे को अनियन्त्रित छोड दिया जाय तो तपस्या अधूरी रहती है। मन वचन एव शरीर इन तीनो का नियन्त्रण भी तपस्या का

उपरोक्त प्रकार से भली भांति की जा सकती है।

५—बौद्ध दर्शन

ढाई सौ वर्ष पूर्व महात्मा गौतमबुद्ध ने भारतवर्ष में जन्म लिया था। उनका हृदय, संसार में विद्यमान दुःख एवं धर्म के नाम पर किये जानेवाले पशुवध से द्रवित हो गया था। उन्होंने कितने ही वर्ष वन में रहकर अनेक प्रकार की तपस्या आदि करके दुःख की समस्या का समाधान ढूढ निकाला। *उन्होंने मुख्य चार सिद्धान्त निर्धारित किये थे जिनको बौद्ध धर्म का स्तम्भ कहा जाता है।*

१ दुःख का अस्तित्व—संसार में चारों ओर दुःख का साम्राज्य स्थापित है। प्रत्येक व्यक्ति किसी-न किसी प्रकार के दुःख से पीड़ित है, जिससे मुक्त होने के लिए वह सदैव उत्सुक रहता है।

२ दुःख का कारण—दुःख का कारण यह है कि मनुष्य विषयवासना की तृप्ति में लगा हुआ है एवं उसको अपने शरीर आदि से बड़ा मोह व ममता है।

३ दुःख का दूर करना—यह दुःख उस समय नष्ट हो सकेगा जब मनुष्य विषयवासना व इच्छा पर नियन्त्रण प्राप्त कर ले और उसके हृदय में वासना व इच्छा उत्पन्न न हो।

४ दुःख दूर करने का उपाय—विषयवासना नष्ट करना ही ध्येय है इसके लिए उन्होंने आठ अंगवाले मार्ग का उपदेश दिया है जो निम्न प्रकार है—

१ सत्य श्रद्धान २ सत्य विचार, ३ सत्य वाणी ४ सत्य चारित्र ५ जीवन निर्वाह के लिए सत्य आजीविका, ६ सत्य काय का प्रयत्न ७ सत्य (शुद्ध) बातों की स्मृति, ८ सत्य समाधि।

महात्मा बुद्ध ने जीव के आवागमन एवं भिन्न भिन्न योनियों में जन्म धारण करने का वर्णन किया है और उपदेश दिया है कि संसार की प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन होता रहता है कोई भी वस्तु एकसी दशा या अवस्था में कभी स्थिर नहीं रहती। परिवर्तन वस्तु का स्वरूप बतलाया है। उप रोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि महात्मा बुद्ध ने आत्मा का कथन उसकी विद्य

मान बाह्य अवस्था की दृष्टि (पर्यायार्थिक नय) से, किया है तथा विद्यमान दुःखों से छूटने के लिए उचित मध्यम मार्ग[1] का उपदेश दिया है। आत्मा के स्वरूप पर उसके वास्तविक स्वभाव की दृष्टि (द्रव्यार्थिक नय) से विवेचन नहीं किया है। यही कारण अन्य दर्शनों से विरोध का है।

महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् उनके अनुयायियों ने इस सिद्धान्त—संसार की प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन होता रहता है—को अतिशयोक्ति तक पहुंचा दिया है। उनके अनुकूल जीव में भी परिवर्तन होता रहता है। एक योनि में स्थित शरीर में एक आत्मा लगातार नहीं रहता है वरन् उसमें परिवर्तन होता रहता है। एक शरीर में जो आत्मा इस समय स्थित है दूसरे समय दूसरा ही आत्मा आजाता है पहला आत्मा उस शरीर में से निकल जाता है। एक योनि से दूसरी योनि तक पहुंचे आत्मा का अस्तित्व वास्तव में नहीं रहता है। ऐसी दशा में आवागमन के सम्बन्ध में बौद्ध आचार्यों ने एक अद्भुत ही सिद्धान्त स्थिर किया है कि मनुष्य की मृत्यु के पश्चात उसके चरित्र सम्बन्धी संस्कारों का समूह उससे पृथक हो जाता है और नवीन योनि में पहुंचकर पुद्गल के नये स्कन्धों के साथ मिलकर नवीन शरीर धारण कर लेता है। पिछले बौद्ध आचार्यों के अनुसार जीव पुद्गल स्कन्धों का एक पुंज है जो अपने पूर्व चरित्र सम्बन्धी संस्कारों से संयुक्त रहता है। इस चरित्र सम्बन्धी संस्कार से मुक्त होना ही बौद्ध धर्म का निर्वाण है। बौद्धदर्शन इस जगत को अनादि मानता है, इसका रचयिता या संस्थापक किसी ईश्वर या चेतन व्यक्ति को स्वीकार नहीं करता है।

६—जैन दर्शन

जैनधर्म इस युग व क्षेत्र में भगवान् ऋषभदेव को अपने धर्म का प्रवर्तक मानता है जिनका समय भूतकाल के अन्धकार में विलुप्त है। इस धर्म

---

[1] मध्यम मार्ग से उस भिक्षुक मार्ग का तात्पर्य है जिसमें न तो शारीरिक कष्टों का अधिक सहन एवं दुद्धर तप द्वारा शरीर को कृश किया जाय और न जिसमें गृहस्थ की भांति इंद्रिय विषय भोग आदि विलासता में ही लगा जावे।

के अंतिम उद्धारकर्त्ता भगवान महावीर थे, जो भगवान बुद्धदेव के सम कालीन थे। जनधम ने छ स्वतन्त्र पदार्थों को माना है, जो अनादि काल से हैं और अनन्त काल तक रहेंगे। इसके अनुसार जगत भी अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगा। यह दर्शन किसी ईश्वर या परमात्मा को इस जगत का न सस्थापक, न कमफलदाता मानता है।

इस दर्शन के छ मूल तत्वा म से दो मूल तत्त्व जीव (आत्मा) व पुद्गल (भौतिक पदाथ) मुख्य हैं। जीव अनन्तान्त हैं जो अनादि काल स पूव कमसस्कार के कारण, इस ससार की भिन्न भिन्न योनियो म, शरीर धारण करते हुए भ्रमण एव अनेक प्रकार के कष्ट भोग रह हैं। जीव व पुद्गल दोनो पदार्थों की पारस्परिक क्रिया व प्रतिक्रिया से कम सस्कार उत्पन्न होते हैं। कम सिद्धान्त का इस दशन ने बडा विशद वणन वज्ञानिक ढग से किया है जो पठन एव मनन करने योग्य है। इस सिद्धान्त का विस्तार पूवक वणन पहले कम सिद्धान्त शीपक अध्याय व उसके फुट नोट म किया जा चुका है।

जन दर्शन के अनुसार आत्मा अनेक गुण व पर्याययुक्त पदाथ है। दशन ज्ञान आनन्द व वीय इस आत्मा के मुख्य गुण हैं। स्वभाव की अपेक्षा, आत्मा में समस्त पदार्थों के देखने व जानने की शक्ति (सवज्ञता) आनन्द एव अनन्त सामथ्य है। ये गुण आत्मा म सदव विद्यमान रहत हैं, इनका नाश कभी नही होता। आत्मा का यह ज्ञान आनन्द वीय-स्वरूप कर्मों के कारण आच्छादित एव विकृत हो रहा है। कर्मों के आवरण के कारण ही, मनुष्य के ज्ञान म न्यूनता या अधिकता देखी जाती है आत्मा के शान्त आनन्द स्वरूप के विकृत होने स काम क्रोध आदि अनेक प्रकार की भावनाए ससारी आत्मा में पाई जाती हैं एव आत्मा की अनन्त शक्ति, कर्मों स आवृत होने के कारण साहस सकल्प शक्ति आदि के रूप म प्रदर्शित होती है। यह दर्शन आत्मा की अवस्था को परिवतनशील मानता है। इसके अनुसार मानसिक चेष्टा, शरीर आदि की स्थिति सदव बदलती रहती है।

मनुष्य जब अपने शुद्धज्ञानानन्द स्वरूप को भली भाति जानकर एव निश्चित करके कि उसकी वतमान अशुद्ध मलिन दशा एव दु खपूण स्थिति,

पूर्व कर्मों के कारण, हो रही है अपने आत्मस्वरूप में दृढ़ श्रद्धान[1] एवं उसको प्राप्त करने का पूर्ण प्रयत्न करता है, मन को विषय-वासना से हटाकर संयम व तप द्वारा इन्द्रियों को नियन्त्रित तथा कर्मबन्धन को नष्ट करता है उस समय उसकी आत्मा शुद्ध होकर परमात्म अवस्था को प्राप्त हो जाती है। अर्हन्त अवस्था को प्राप्त करके अपनी दिव्य ज्ञान-ज्योति में संसार के समस्त पदार्थों को अवलोकन करता है एवं दिव्य अलौकिक आनन्द में मग्न होकर अनुपम सुख का आस्वादन करता है। इस अर्हन्त (जीवन्मुक्त) अवस्था में कुछ काल तक रहकर एवं संसार के प्राणियों को अपनी दिव्य वाणी द्वारा धर्मामृत पान कराकर, मोक्ष को पधार जाता है जहां अनन्त काल तक दिव्य आनन्द में मग्न रहता है और जहां उसके दिव्य ज्ञान में संसार के समस्त त्रिलोकवर्ती पदार्थ आलोकित होते रहते हैं।

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि जैन दर्शन ने आत्मा के ज्ञान, आनन्द शक्ति आदि गुणों को उसके वास्तविक स्वरूप की दृष्टि (द्रव्यार्थिक नय) से एवं वर्तमान मलिन संसारी दशा को बाह्य अवस्था की दृष्टि (पर्यायार्थिक नय) से यानी दोनों दृष्टियों से विचार किया है। पूर्व में लिखा जा चुका है कि इस दर्शन ने प्रत्येक पदार्थ को अनेकात्मक अर्थात् अनेक गुण वाला माना है और इसके कथन का ढंग स्याद्वाद[2] रूप है। जैनदर्शन

---

[1] जैनधर्म ने सम्यग्दर्शन (आत्म-स्वरूप अथवा जीव १ अजीव २ कर्मों के आस्रव ३ बन्ध ४ संवर ५ (कर्म का रोकना) निर्जरा ६ (कर्म का फल देने एवं शक्तिविहीन होने के पश्चात् आत्मा से सम्बन्ध से पृथक् होना) एवं मोक्ष ७ (कर्मों से बिल्कुल मुक्ति) सप्त तत्वों का दृढ़ श्रद्धान), सम्यग्ज्ञान (आत्म स्वरूप अथवा उपरोक्त सप्त तत्वों का यथार्थ ज्ञान) व सम्यक्चारित्र (आत्म स्वरूप में लीन होना अथवा चारित्र का भली भांति पालन करना) को मोक्ष का मार्ग बतलाया है इन तीनों के धारण करने का विशेष उपदेश दिया है।

[2] स्याद्वाद का शाब्दिक अर्थ है कि (स्याद्—वाद) किसी वस्तु का किसी एक दृष्टि से वर्णन करना। स्याद्वाद कथन से तात्पर्य है कि किसी वस्तु के सम्बन्ध में जो कोई वर्णन किसी समय किया जाता है उसके

न इस स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद पर बहुत ही अधिक जोर दिया है। इस दर्शन की धारणा है कि स्याद्वाद का यथार्थ ज्ञाता भिन्न भिन्न दर्शनों के विभिन्न एवं विरोधी सिद्धान्तों को भली भांति समझ सकता है, विवादग्रस्त विषय के भिन्न भिन्न गुण एवं अवस्थाओं का भिन्न भिन्न दृष्टि से विवेचन करके उनके विरोध को मिटा सकता है। विरोध को हटाकर जो सिद्धान्त निर्धारित होगा, वही सत्य एवं यथार्थ होगा।

जैनधर्म प्रतिपादित चारित्र का प्रासाद अहिंसा सिद्धान्त की नींव पर खड़ा है। उच्च अर्थ में हिंसा शब्द से तात्पर्य काम क्रोध आदि उन समस्त भावना एवं प्रवृत्तियों से है जिनके होने से आत्मा की शान्त वीतराग अवस्था विकृत एवं नष्ट होती है। इन उच्च अर्थ में अहिंसा शब्द से तात्पर्य आत्मा की शान्त वीतराग अवस्था से है। शिष्य एवं जनता के समझाने के हेतु हिंसा की भावना को हिंसा असत्य चौर्य, अब्रह्म एवं परिग्रह (सांसारिक पदार्थों से ममता एवं उनके ग्रहण करने की लालसा) पंच भावनाओं में विभक्त किया है जिनको पांच पापों के नाम से पुकारा है। इन पंच पापों के त्याग को अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह (परिग्रह त्याग) पंच व्रत कहा है। ये ही पंच व्रत जैनधर्म सम्बन्धी सम्पूर्ण चारित्र के आधार हैं। इनकी ही सहायता के लिए अन्य व्रत यम व नियम बतलाए हैं। गृहस्थ व साधु अवस्था की परिस्थिति अनुसार इन व्रतों के विवेचन में अन्तर कर दिया गया है।

अहिंसा आदि पंच व्रतों का वर्णन चारित्र के निषेधात्मक पक्ष को दृष्टि में रखकर किया गया है। जब चारित्र के विधेयात्मक पक्ष का वर्णन किया

सम्बन्ध में यह समझ लिया जाय कि यह कथन उस वस्तु के समस्त गुण व अवस्थाओं का नहीं है वरन यह वर्णन उस वस्तु के किसी एक विवक्षित गुण या अवस्था का किसी एक दृष्टि से किया गया है। उस वस्तु के अन्य गुण व अवस्थाओं का एवं उस विवक्षित गुण का अन्य दृष्टि से वर्णन, अन्य प्रकार भी होता है। ऐसा समझ लेने से किसी मनुष्य को उस वस्तु के सम्बन्ध में भ्रम नहीं होगा। इस सिद्धान्त का वर्णन पहले भी हो चुका है देखो पृष्ठ १८९ ?

जाता है तो शुद्ध परमात्मा अर्हत के गुणों का स्तवन परमात्म अवस्था का ध्यान स्वकृत कार्यों की दैनिक आलोचना स्वाध्याय तप परोपकार आदि नियम व कार्य—जिनके करने से आत्मा को शान्त वीतराग अवस्था प्राप्त करने में सहायता मिलती है—मुमुक्षु जीव के लिए बतलाए हैं। ये नियम वास्तव में अहिंसा धर्म का विधयात्मक पक्ष है। अर्वाचीन एवं अनुसंधान द्वारा निर्धारित उपरोक्त आत्म-स्वरूप एवं चारित्र के कथन से जैनधर्म कथित आत्म-स्वरूप व चारित्र का वर्णन बहुत कुछ मिलता-जुलता है।

७—ईसाई धर्म

ईसाई धर्म के प्रवर्तक महात्मा ईसा हैं। दो हजार वर्ष पूर्व एशिया के पश्चिम भाग में जरूसलम नगर के समीप महात्मा ईसा ने जन्म लिया था। वह प्रदेश उस समय रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत था। वहां की जनता अज्ञानता एवं रूढ़ियों की जंजीर में फंसी थी। प्रचलित धर्म रीति रिवाज एवं साम्राज्य के विरुद्ध कहना भी पाप समझा जाता था। प्रतिकूल विचारों के सुनने की क्षमता जनता में न थी असहिष्णुता की मात्रा अधिक बढ़ी हुई थी। ऐसी परिस्थिति में महात्मा ईसा ने इस पृथ्वी पर जन्म धारण किया था। यह बिल्कुल स्वाभाविक ही था कि इस परिस्थिति का प्रभाव उनके उपदेश एवं कार्यप्रणाली पर पड़ता। उन्होंने अपना उपदेश कहानी एवं अलंकारिक भाषा के रूप में देना प्रारम्भ किया।[1] उनको यह भय था कि यदि उन्होंने प्रचलित धर्म एवं रीति रिवाज के विरुद्ध खुल्लमखुल्ला आन्दोलन किया, तो वे स्वयं एवं उनके अनुयायी विपत्ति में पड़ जायंगे और

---

[1]ईसाइयों की पवित्र पुस्तक बाइबिल (मत्थ्यू अध्याय ६ ७) में कहा है 'पवित्र वस्तु को कुत्ते को मत दो न अपने मोती सूअर के सामने डालो नहीं तो वे उनको अपने पैरों के नीचे कुचल डालेंगे और तुमपर टूट पड़ेंगे तथा तुमको फाड़ डालेंगे।' इसका भावार्थ निम्न प्रकार है तुम अपना उपदेश कुपात्र को मत दो वह तमसे उल्टा अप्रसन्न होकर, तुम्हारा अनिष्ट करने के लिए उतारू हो जायगा।"

व अपनी शुभ भावना को कार्यरूप में परिणत न कर सकेंगे।[1]

ईसाई धर्मावलम्बी प्राचीन समय के आचार्य यह भली भांति जानते थे कि महात्मा ईसा का सदुपदेश कहानी की अलंकारिक भाषा के पर्दे में छिपा हुआ है और उसका वास्तविक अर्थ शाब्दिक अर्थ से कहीं भिन्न है।[2] वे सत्य को पहचानते थे। अर्वाचीन समय के आचार्य बाइबिल तथा अन्य पुस्तकों का शाब्दिक अर्थ लेते हैं जिसका परिणाम यह हुआ कि ईसाई मत का प्रभाव पाश्चात्य स्त्री पुरुषों के हृदय से उठ रहा है।

---

[1] बाइबिल में (मार्क अध्याय ७ २७) कहा है 'यह उचित नहीं है कि बच्चों की रोटी ले ली जाय और कुत्तों के सामने डाल दी जाय।' इसका भावार्थ यह है कि यह उचित नहीं है कि जो उपदेश सुपात्रों के योग्य है, वह कुपात्रों को दिया जाय।

बाइबिल में (मार्क अध्याय ४ ३४) में कहा है कि बिना कहानी के, वे उनसे (जनता से) नहीं कहते थे।

[2] ईसामसीह का अर्थ घटना के रूप में सत्य निकला। महात्मा ईसा की मृत्यु उपरोक्त उपदेश के कारण शूली पर चढ़ाकर की गई थी।

बाइबिल (लूक अध्याय ८ १०) में लिखा है कि उन्होंने (महात्मा ईसा ने) कहा, तुम ईश्वरीय साम्राज्य के रहस्य को समझ सकोगे, परन्तु अन्य मनुष्यों के लिए कहानी में कहा गया है, क्योंकि वे देखते हुए भी न देख सकेंगे और सुनते हुए भी न समझ सकेंगे।"

बहुत सी घटनाएं अलंकारिक भाषा में पहेली, दृष्टान्त एवं कहानी के रूप में, कही गई हैं, उनका वास्तविक अर्थ शाब्दिक अर्थ से भिन्न है।

(टरटूलियन) एन्टी निसन क्रिश्चियन पुस्तकालय पुस्तक ७, पृ० १७६ सत्य अन्धकार में छिपा हुआ है। (लैक्टेन्टियस)

उक्त पुस्तकालय की पुस्तक २१, पृ० २

हमको अपने पूर्वजों से उन पुस्तकों का रहस्य ---जिनसे साधारण जनता को भ्रम होता है---परम्परा से ज्ञात होता रहा है। (क्लेमिन्टाइन होमीलीज)

उक्त पुस्तकालय की पुस्तक १७, पृ० ५८

साथ भलाई करो जिसका बर्ताव तुम्हारे साथ बुरा हो और जो तुम पर अत्याचार करते हो, उनके आत्म-कल्याण के लिए प्रार्थना करो।

(मथ्यू अ० ५ ४४४५)

तुम जो दान दो उसकी सूचना बाएं हाथ को भी न होने दो। तुम्हारा दान गुप्त होना चाहिए। ईश्वर गुप्त बातों को देखता है वह तुमको गुप्त दान का पुरस्कार देगा। (मथ्यू अ० ६ ३ ४)

महात्मा ईसा ने उपरोक्त प्रकार का उच्च आदेश अपने अनुयायियों को देकर इस पृथ्वी को स्वर्ग में परिणत करने का प्रयास किया था।

आत्मा व परमात्मा का वास्तविक स्वरूप एवं उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट रूप से, ईसाई धर्म में नहीं सिखलाया गया। महात्मा ईसा एवं ईसाई धर्म के पूर्व आचार्यों का कथन, अलंकारिक भाषा के पर्दे में छिपा हुआ है। उनके कथन को ध्यानपूर्वक पढ़ने एवं समझने से प्रतीत होता है कि आत्मा व परमात्मा का स्वरूप इस पुस्तक द्वारा निर्धारित आत्मा व परमात्मा के स्वरूप से मिलता जुलता है जैसा कि निम्नलिखित उद्धरणों से प्रगट होता है—

तुम भी इतनी ही शुद्धता एवं पूर्णता को प्राप्त करो जितनी शुद्धता एवं पूर्णता तुम्हारे पिता ईश्वर में है जो स्वर्ग में विराजमान है।

(मथ्यू अ० ५ ४८)

मैंने कहा है कि तुम स्वयं ईश्वर हो। (जान अ० १० ३४)

देखो ईश्वर का साम्राज्य तुम्हारे अन्दर है। (लूक अ० १७ २१)

तुम भी वे ही विचार हृदय में धारण करो जैसे कि ईसा मसीह में थे। ईश्वर का अवतार होते हुए भी, उसने ईश्वर सदृश होने के प्रयास में अपराध नहीं समझा। फिलीपियन (अ० २ ५ ६)

सबसे अधिक जानने योग्य यह है कि तू अपने आपको जान ले। यदि तुम अपने आपको जान लोगे तो तुम ईश्वर को भी जान जाओगे। यदि तुम ईश्वर को जान लोगे तो तुम ईश्वर सदृश हो जाओगे। सुनहरे या बढ़िया कपड़े पहनने से नहीं वरन् अच्छे कार्य करने एवं अपनी आवश्यकताओं को कम से कम करने से ईश्वर तुल्य बन सकोगे। (क्लीमेण्ट) एन्टीनिसन क्रिश्चियन पुस्तकालय (पुस्तक ४, पृ २७३)

साथ भलाई करो, जिसका बर्ताव तुम्हारे साथ बुरा हो और जो तुम पर अत्याचार करते हो, उनके आत्म-कल्याण के लिए प्रार्थना करो।

(मथ्यू अ० ५ ४४,४५)

तुम जो दान दो, उसकी सूचना बाएं हाथ को भी न होने दो। तुम्हारा दान गुप्त होना चाहिए। ईश्वर गुप्त बातों को देखता है वह तुमको गुप्त दान का पुरस्कार देगा। (मथ्यू अ० ६ ३ ४)

महात्मा ईसा ने उपरोक्त प्रकार का उच्च आदर्श अपने अनुयायियों को देकर इस पृथ्वी को स्वर्ग मे परिणत करने का प्रयास किया था।

आत्मा व परमात्मा का वास्तविक स्वरूप एवं उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट रूप से ईसाई धर्म में नही सिखलाया गया। महात्मा ईसा एवं ईसाई धर्म के पूर्व आचार्यों का कथन, अलंकारिक भाषा के पर्दे में छिपा हुआ है। उनके कथन को ध्यानपूर्वक पढने एवं समझने से प्रतीत होता है कि आत्मा व परमात्मा का स्वरूप इस पुस्तक द्वारा निर्धारित आत्मा व परमात्मा के स्वरूप से मिलता जुलता है जैसा कि निम्नलिखित उद्धरणों से प्रगट होता है—

तुम भी इतनी ही शुद्धता एवं पूर्णता को प्राप्त करो, जितनी शुद्धता एवं पूर्णता तुम्हारे पिता ईश्वर में है जो स्वर्ग में विराजमान है।

(मथ्यू अ० ५ ४८)

मैंने कहा है कि तुम स्वयं ईश्वर हो। (जान अ० १० ३४)

देखो ईश्वर का साम्राज्य तुम्हारे अन्दर है। (लूक अ० १७ २१)

तुम भी वे ही विचार हृदय में धारण करो, जो कि ईसा मसीह में थे। ईश्वर का अवतार होते हुए भी उसने ईश्वर सदृश होने के प्रयास में अपराध नहीं समझा। फिलीपियन (अ० २ ५ ६)

सबसे अधिक जानने योग्य यह है कि तू अपने आपको जान ले। यदि तुम अपने आपको जान लोगे तो तुम ईश्वर को भी जान जाओगे। यदि तुम ईश्वर को जान लोगे, तो तुम ईश्वर सदृश हो जाओगे। सुनहरे या बढ़िया कपड़े पहनने में नहीं वरन् अच्छे कार्य करने एवं अपनी आवश्यकताओं को कम-से-कम करने से ईश्वर तुल्य बन सकोगे। (क्लीमेण्ट)एन्टी निसन क्रिश्चियन पुस्तकालय (पुस्तक ४, पृ० २७३)

८—इस्लाम धर्म

मुसलमान धर्म के प्रवर्तक हज़रत मोहम्मद साहब पैगम्बर हैं। चौदह सौ वर्ष पूर्व पैगम्बर साहब ने अरब देश के मक्का नगर में जन्म लिया था। उस समय वहाँ पर यहूदी, पारसी आदि धर्मों का जोर था, वहाँ की जनता बड़ी कट्टर, अज्ञानता व रूढ़ियों में फँसी हुई एवं असहिष्णु थी। अनेक देवताओं की पूजा होती थी। प्रचलित धर्म के रीति रिवाज के विरुद्ध किसी बात के सुनने में उसकी क्षमता न थी। जो मनुष्य प्रचलित धर्म या रीति रिवाज के विरुद्ध आवाज उठाता या प्रचार करता था, उसको तलवार के घाट उतार दिया जाता था। ऐसी परिस्थिति में हज़रत मोहम्मद ने जन्म लिया था। वहाँ की रीति के अनुसार, मोहम्मद साहब अच्छे वक्ता एवं घुड़सवार थे। वे बचपन से ही विचारशील थे। हीरा पर्वत की गुफा में कितने ही दिनों तक रहकर तप व ध्यान किया था और उन्हें ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हुआ था।

मोहम्मद साहब ने अपने धर्म का प्रचार सन्तुलित भाषा में प्रारम्भ किया। इसपर भी उनका विरोध बढ़ने लगा। उनके कुछ अनुयायी हो गये। उनपर आक्रमण हुआ। मोहम्मद साहब ने अपने अनुयायियों की सहायता से आक्रमणकारियों पर विजय पाई। उनके अनुयायी बढ़ने लगे एवं उनके धर्म में भी तलवार के जोर के साथ-साथ वृद्धि होने लगी। मोहम्मद साहब धर्म प्रवर्तक के साथ-साथ देश के भी शासक हो गए।

यह स्वाभाविक ही था कि वहाँ की परिस्थिति का प्रभाव मोहम्मद साहब के धर्म एवं उपदेश पर पड़ता। इसलिए मोहम्मद साहब द्वारा रचित कुरान में धर्म समाज न्याय राजनीति आदि अनेकों विषयों पर आयतें (पद) हैं। कितनी बातें अलंकारिक भाषा में कही गई हैं और कितने ही स्थानों पर सत्य छिपा हुआ है। वहाँ की जनता कट्टर सत्य सहने के अयोग्य थी। यदि सत्य स्पष्ट कहा जाता तो सम्भव था कि सत्य-वक्ताओं को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ता।

मोहम्मद साहब ने स्वयं पवित्र पुस्तक कुरान में कहा है कि पैगम्बर प्रत्येक देश व युग में उत्पन्न होते हैं और वे सब एक ही वास्तविक सत्य का

उपदेश दत है। भिन्न भिन्न भाषा एवं तरीके से कोई भेद नहा पडता।

साधारण मुसलमान जनता इस जगत को खुदा (ईश्वर) का बनाया हुआ मानती है। समस्त प्राणि-समाज का निर्माता ईश्वर है। वही मनुष्य को मृत्यु के पश्चात न्याय दिवस के दिन उसके पुण्य कर्मों के अनुसार, स्वर्ग म भेज देता है जहा वह अनन्त काल तक स्वर्ग का सुख भोगता है वही मनुष्य को उसके पाप-कर्मों के अनुसार नरक म डाल देता है, जहा चिरकाल तक नरक की यातनाए सहन करता है।

मोहम्मदसाहब ने अपने अनुयायियो के ईमान (श्रद्धा) लाने पर जोर दिया है प्रत्येक सच्चे मुसलमान को ईश्वर न्यायदिवस व पगम्बर मोहम्मद साहब पर विशेषकर, ईमान लाना चाहिए और परोपकार के काय म लगना चाहिए। उन्होंने अपने अनुयायियो के लिए निम्नलिखित धार्मिक काय निश्चय किये हैं—

१ नमाज पढ़ना (प्रार्थना)—पाच बार नमाज पढी जाय जिसमे ईश्वर की स्तुति होती है। शुक्रवार के दिन विशेषकर नमाज पढी जाय।

२ रोजा (उपवास) रखना—आत्म शुद्धि व इन्द्रियवासना पर नियत्रण प्राप्त करने के लिए उपवास रखा जाय। इसके लिए रमजान का मास विशेषकर नियत किया गया है जिसम भोजन एव जल का त्याग दिन म बतलाया गया है, केवल रात्रि म भोजन किया जाता है। इन दिनो म हल्का भोजन एव अपने विचार व इन्द्रियो को वश म रखना चाहिए। इन दिनो म अपशब्द कहना क्रोध दाह भ्रान्ति भावना का रखना निषिद्ध ठहराया गया है।

३ हज (तीर्थ यात्रा) करना—मक्का तीर्थस्थान पर जाना। इस तीर्थ-यात्रा म अत्यन्त शुद्ध रहने का आदेश दिया गया है जीवो की हत्या करना भी निषिद्ध बतलाया गया है।

४ जकात (दान)—बुभुक्षित दु खित ऋणी व्यक्तियो की सहायता कदी व्यक्तियो की मुक्ति आदि धार्मिक कार्यों म धन व्यय करने का उपदेश दिया गया है।

जनता के चरित्र को उन्नत करने क हेतु मोहम्मदसाहब ने अपने अनुयायियो को नम्र पवित्र, सहिष्णु आदि रहने का उपदेश दिया है। सच्चे

(इलहाम मजूम भाग २ पृ० १५७ १५८) कविता रची है जिसमें गाय को नफ्स (इन्द्रिय-वासना) बतलाया है। इस कविता के पढ़ने से स्पष्ट है कि वे इस कथा को अलंकारिक समझते थे। इस कथा के अलंकार की व्याख्या श्री सी० आर० जन ने असहमत सगम नामी पुस्तक में बड़े सुन्दर शब्दों में की है, जो निम्न प्रकार है—

शिशु से अभिप्राय संसारी आत्मा का है अनाथ से तात्पर्य है कि उसका रक्षक कोई नहीं है। बछिया एव गाय से अभिप्राय नफ्स अर्थात् मन व इन्द्रिय से है। जंगल की उपमा संसार से दी गई है जिसमें प्राणी भटकता फिरता है। माता से अभिप्राय बुद्धि का है। बाजार का अभिप्राय जगत से है। तीन अशर्फियों से अभिप्राय है आवश्यकता आराम एव ऐश की वस्तुओं से। देवदूत से अर्थ है उस मनुष्य के पूर्व-पुण्य-कर्म का फल। इसराइल से—जो मृत्यु को प्राप्त हुआ—तात्पर्य शुद्ध आत्मा से है, जो प्रकृति (इन्द्रिय-वासना) के संयोग से अशुद्ध हो गया है। इस कथा का तात्पर्य यह है कि मनुष्य जब बड़ा हुआ और उसके बुद्धि उत्पन्न हुई तो उस (बुद्धि-रूपी माता) ने प्रेरणा की कि तू खेल-कूद में समय व्यतीत मत कर अपनी इन्द्रिय-वासना को [illegible] करके व्यापार कर जिससे तेरी सांसारिक आवश्यकताएं पूरी [illegible] वस्तुएं आराम व ऐश की भी प्राप्त हो जायगी। जब वह इन्द्रियों [illegible] में करके व्यापार में लगा तो उस समय पूर्व-पुण्य कर्म की [illegible] किया कि तू मूर्ख है यदि तू इन्द्रिय एव मन को संयमित रख [illegible] तुझको उपरोक्त तीनों प्रकार की वस्तुएं ही नहीं वरन् [illegible] सामग्रियां प्राप्त हो सकेंगी। जब बुद्धि इस बात के लिए [illegible] अधिक संयम द्वारा मन एव इन्द्रिय-वासना (नफ्स=[illegible]) [illegible] ले तो पूर्व-पुण्य-कर्म ने फिर प्रेरणा की कि यदि तू [illegible] पूर्णतया वश में कर लेगा तो तू अनुपम आनन्द [illegible] प्राप्त कर सकेगा।

इस कथा का पिछला भाग उस [illegible] भौतिकवादी और आध्यात्मिक में आत्मा के [illegible] आत्मा क्या पदार्थ है? और क्यों ऐसी [illegible]

नन्द अवस्था को प्राप्त कर लिया है। यह नसारी आत्मा (मत इसराइल) आचार्य के पास—जो इन्द्रियां (नफस=गाय) को वश में करके जितेन्द्रिय हो गए हैं—गया। आचार्य के दर्शन एवं उपदेश (स्नान) से उसका भ्रम हट गया एवं वह फिर आध्यात्मिक (जीवित) हो गया। ऐसा होने पर फिर बाह्य शरीर को त्यागकर मुक्त अवस्था को प्राप्त हो गया (अर्थात् उसका बाह्य शरीर पृथक हो गया)। इस प्रकार उपरोक्त कथा को यदि अलंकारिक समझा जाय तो वह एक बड़े सत्य की द्योतक हो जाती है।

कुरान की आयतों (पदों) से स्पष्ट है कि ईश्वर किसी के साथ अन्याय नहीं करता है। मनुष्य जैसे कर्म करता है उन्हीं के अनुसार वह फल देता है।

आत्मा ने जो पुण्य-कर्म किए हैं उनके संस्कार उसके साथ हैं। जो बुरे कर्म किये हैं उनके भी बुरे संस्कार उसके साथ हैं (कुरान २, पृ० २८६)

और मनुष्य जो आपत्ति तेरे ऊपर आती है, वह तुमसे ही उत्पन्न हुई है। (कुरान ४ पृ० ७९)

जो विपत्ति तुम्हारे ऊपर आती है वह इस कारण से कि तुमने उसको अपने हाथों से किया है। (कुरान ४२ पृ० ३० ३२)

ईश्वर मनुष्य के साथ कोई अन्याय नहीं करता है मनुष्य स्वयं अपने साथ अन्याय करता है। (कुरान १०, पृ० ४४)

मनुष्य के अतिरिक्त, पशु-पक्षियों में भी आत्मा मानी है। कुरान (अध्याय २४) में कहा है क्या तू नहीं देखता कि पृथ्वी व स्वर्ग के समस्त प्राणी ईश्वर की स्तुति करते हैं और पक्षी भी अपने पर फैलाकर।

अनवयात में कहा है कि 'इन्द्रियां मनुष्य के ही केवल नहीं, ईश्वर का यह उपहार पशु-जगत तक ही नहीं अपितु वनस्पति तक पहुंचता है। उनकी प्रवृत्ति बच्चों के पालने की रीति' भोग्य पदार्थों के संग्रह पारस्परिक प्रेम, शत्रुओं से घृणा अपनी हानि व लाभ का समझना रोगियों की सेवा-सुश्रूषा आदि से विस्मय होता है। इससे स्पष्ट है कि उनके इन्द्रियां होती हैं और उनको ज्ञान होता है।

'देखो कुरान श्री सेल द्वारा अंग्रेजी भाषा में रचित।

उपसहार

दशन व धर्मों के उपरोक्त सक्षप वणन स स्पष्ट है कि इन प्रचलित धर्मों म कहा तक समानता एव मतभेद है और उस मतभेद के कारण क्या हैं। पाठको के लाभाथ यह समानता सक्षप म निम्न प्रकार कही जा सकती है—

१ समस्त ही प्रचलित धर्मों ने मनुष्य के अन्तर्स्थित ज्ञान एव भावना युक्त पदाथ को आत्मा माना है और इस आत्मा को सूक्ष्म अमूर्त्तिक इन्द्रिय अगोचर एव भौतिक पदाथ के गणो से विलक्षण गुणधारी बतलाया है।

२ सब ही धर्मों की धारणा है कि यह मनुष्य मोह के कारण इन्द्रिय वासना की तप्ति को ही सुख मान लेता है। विषय-वासना वास्तव म सुख नहीं है वरन् दु ख रूप है। सासारिक सुखो की प्राप्ति म सलग्न होने से मनुष्य म काम क्रोध आदि अनेक अशुभ भावना व क्षुद्र वत्तिया उत्पन्न होती हैं जिनस मनुष्य को भविष्य म दु ख उठाना पड़ता है एव उसका नतिक पतन हो जाता है। इसलिए समस्त धर्मों ने सासारिक सुख एव विषय-वासना की तप्ति को हय बतलाकर सयम द्वारा इनपर विजय प्राप्त करना निश्चित किया है।

समस्त धर्मों का उपदेश है कि जीवो पर दया करनी चाहिए किसी भी प्राणी को सताया न जाय। दु खित मनुष्यों को दु ख स मुक्त कराना भूखा को भोजन कराना रोगियो को औषधि देना एव उनकी सेवा करना मनुष्य मात्र का कतव्य है। समस्त मानव-समाज को अपने सदृश समझकर, प्रत्येक व्यक्ति के साथ भ्रातभाव से बतना चाहिए सब ही धर्मों ने असत्य का त्याज्य बतलाया है। अप्रिय, कठोर निन्द्य अहकारयुक्त वचनो की निन्दा की है। दनिक व्यवहार मे छल रहित स्पष्ट एव शिष्टता का व्यवहार करने का आदेश दिया है। मदिरा आदि मादक वस्तु का—जिसके प्रयोग स मनुष्य मदोन्मत्त होकर अज्ञानी हो जाता है एव अनेक प्रकार के दुष्कम

कर डालता है—सवथा निषध किया है। जुआ—जो अन्याय का मूल है लाभ आदि क्षुद्र वत्तियो का वद्धक है व जिसमे अनेक अनथ होते हैं—सवथा त्याज्य कहा है।

प्रत्यक धम न चोरी की निन्दा की है। किसी मनुष्य की धन-सम्पत्ति धोखा देकर अपहरण करना धरोहर हजम कर लेना अन्याय द्वारा धनोपाजन करना आदि काय को र्वाजत बताया है। स्त्रियो के साथ भोग विलास म रत रहने को त्याज्य कहा है। अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त समस्त स्त्री समाज को माता-बहन के तुल्य समझने का आदेश दिया है। पर-स्त्री को काम वासना की दृष्टि से दखना पाप बतलाया है। भारतवष के समस्त धर्मों ने तो पूण ब्रह्मचारी रहना श्रेष्ठ समझा है। उस व्यक्ति के लिए—जो आत्मकल्याण एव अन्तस्थित ज्ञान आनन्द-स्वरूप प्राप्त करने का उत्सुक है—सन्यास-माग का उपदेश दिया है एव विवाहिता स्त्री को भी त्याज्य कहा है।

मन, इन्द्रिय एव इच्छाओ पर नियत्रण प्राप्त करने के लिए भोग व उपभोग की सामग्रिया सीमित की जाय। सादा जीवन व्यतीत करने के लिए सासारिक आवश्यकताओ को घटाया जाय। केवल उन्ही वस्तुओं का उपयोग किया जाय जिनके बिना शरीरयात्रा कठिन हो। क्रोध अहकार आदि दुर्भावना एव क्षुद्र वृत्तियो को नष्ट करके उनके स्थान पर दया प्रम आदि सद्भावना एव उच्च वत्तियो की वद्धि की जाय।

३ समस्त प्रचलित धर्मों ने घोषित किया है कि मनुष्य को इस मानव जीवन के पश्चात परलोक म गमन करना है। यदि वह इस जीवन म शुभ कम करेगा दीन दुखियो की सहायता करेगा विषय-वासना म लिप्त न होगा, तो उसको परलोक म सुख मिलेगा एवं स्वग म जायगा जहा चिरकाल तक सुख भोगेगा। यदि मनुष्य पाप कम करेगा अन्य जीवो को सतायगा अन्याय से धनोपाजन करेगा विषय वासना मे रत रहगा तो परलोक म दु ख भोगेगा एव नरक म जायगा जहां चिरकाल तक अनेक प्रकार की यातनाए सहन करनी होगी।

भारतीय धर्मों के अनुसार ज्यों-ज्यों मनुष्य सयम द्वारा इन्द्रिय-वासना सासारिक इच्छा तथा क्षुद्र वत्ति पर विजय एव तपस्या द्वारा पूव सचित

कर्मों का विनाश करता जायगा, त्यों-त्यों उसका आत्मा शुद्ध एवं उन्नत होता जायगा। एक समय ऐसा आ जायगा, जब वह समस्त कर्म-जाल का नष्ट करके शुद्ध हो जायेगा, उसके दिव्य ज्ञान में समस्त लोक के पदार्थ आलोकित होने लगेंगे। पवित्र मोक्ष स्थान में पहुँचकर, अनन्त काल तक, अनुपम अलौकिक आनन्द में मग्न रहेगा। यदि ईसाई व मुसलमान धर्मों की पवित्र पुस्तकों की भाषा को अलंकारिक माना जाय तो ये धर्म भी भारतीय धर्मों के सदृश ही आत्मा को उन्नत बनाकर परमात्म अवस्था तक पहुंचने का मार्ग बतलाते हैं।

६ प्रत्येक धर्म की धारणा है कि मनुष्य जैसा कर्म करता है उसके अनुसार ही उसको फल मिलता है। जिन धर्मों ने ईश्वर को कर्ता या कर्म फलदाता माना है, उनकी भी यही मान्यता है कि मनुष्य जैसा कर्म करता है उसके अनुसार ही ईश्वर कर्म-फल देता है। ईश्वर किसी प्राणी के साथ अन्याय नहीं करता है।

भारतीय धर्मों की तो यही धारणा है कि मनुष्य अपने कर्मों के कारण इस संसार में भ्रमण कर रहा है नाना प्रकार की योनियों में शरीर धारण करता है। जैन बौद्ध योग सांख्य एवं वेदान्त दर्शनों के अनुसार कोई अन्य चेतन शक्ति ईश्वर कर्मों का फल नहीं देता है प्राणी को अपने पूर्व कर्मों का फल स्वमेव (उपरोक्त निर्धारित कर्मसिद्धान्त में न्यूनाधिक मिलती जुलती पद्धति पर) मिलता रहता है। ईसाई व मुसलमान धर्मों के अनुसार भी, ईश्वर न्यायदिवस पर प्राणियों को उनके कर्म अनुसार स्वर्ग अथवा नरक में भेज देता है।

◎